गांधी-मार्ग

गांधीजी □ काका कालेलकर □ राजगोपाल पी.वी.
मीनाक्षी अरोड़ा □ सिराज केसर □ राधा भट्ट
जाबिर हुसेन □ रामचंद्र राही
सोपान जोशी

वाइकोम : सड़क से गुजरा सत्य

जनवरी–फरवरी 2013

सृजन स्मरण

भाव थे जो शक्ति-साधन के लिए, लुट गए किस आंदोलन के लिए!
यह सलामी दोस्तों को है, मगर मुट्ठियाँ तनती हैं दुश्मन के लिए!
धूल में हमको मिला दो, किंतु, आह, चालते हैं धूल कन-कन के लिए।
तन ढँका जाएगा धागों से, परंतु लाज भी तो चाहिए तन के लिए।
नाज पकने पर खुले आकाश से बिजलियाँ गिरती हैं निर्धन के लिए।
संकुचित है आज जीवन का हृदय, व्यक्ति-मन रोता है जन-मन के लिए।

शमशेर बहादुर सिंह

(1911 - 1993)

दिल्ली सरकार
दीन दिल्ली – स्वप्न करे साकार

सूचना एवं प्रचार निदेशालय

गांधी-मार्ग

अहिंसा-संस्कृति का द्वैमासिक
वर्ष 55, अंक 1, जनवरी-फरवरी 2013

गांधी शांति प्रतिष्ठान

1. वाइकोमः सड़क से गुजरा सत्य — गांधीजी — 3

2. मरण हमारा जन्मसिद्ध अधिकार — काका कालेलकर — 15

3. खुफिया तंत्र और खुला काम — राजगोपाल पी.वी. — 21

4. देवासः पसीने से उठा जलस्तर — मीनाक्षी अरोड़ा, सिराज केसर — 27

5. तिब्बतः आत्मदाह का ताप — राधा भट्ट — 33

7. इल्तिजा — जाबिर हुसेन — 37

8. **पुराना चावलः**
प्रतिक्रिया या स्वतंत्र अहिंसा शक्ति — रामचंद्र राही — 43

7. **पोथी पढ़ि पढ़िः**
साधारण-सा जीवनः असाधारण किताबें — सोपान जोशी — 51

8. **टिप्पणियां** — 57

9. **पत्र** — 60

वार्षिक शुल्क : भारत में 100 रुपए, दो वर्ष का 190 रुपए, आजीवन-500 रुपए (व्यक्तिगत), 1000 रुपए (संस्थागत) एक प्रति का मूल्य बीस रुपए, डाक खर्च निःशुल्क। दो माह तक न मिलने पर शिकायत लिखें। शुल्क बैंक ड्राफ्ट, मनीआर्डर द्वारा 'गांधी शांति प्रतिष्ठान' के नाम भेजें।

संपादन : अनुपम मिश्र, सज्जा : दिलीप चिंचालकर, प्रबंध : मनोज कुमार झा

गांधी शांति प्रतिष्ठान, 223 दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-2 के लिए अनुपम मिश्र द्वारा प्रकाशित
फोन : 011-2323 7491, 2323 7493, फैक्स : 011-2323 6734
Email: gmhindi@gmail.com

मुद्रक : अशोक प्रिंटिंग प्रेस, 2810 गली माता वाली, चांदनी चौक, दिल्ली-06, फोन नं.011-23264968

वाइकोमः सड़क से गुजरा सत्य

गांधीजी

पहले त्रावणकोर राज्य की प्रशंसा। फिर वहां के नाबालिग राजा, राजा की मां, महारानी की तारीफ और फिर रैयत की भी सादगी का सुंदर बखान। तब आते हैं गांधीजी इस आदर्श राज्य के भीतर चल रही भयानक अस्पृश्यता पर। यहां मंदिर में कौन जाएगा, कौन नहीं से भी बढ़ कर अन्याय हो रहा था। मंदिर की ओर जाने वाले रास्तों पर भी कुछ का चलना मना था। इस अंधेर और अन्याय को दूर करने के लिए कोट्टायम के पास वाइकोम नाम की जगह पर यह सत्याग्रह चला था। एक वर्ष से भी ज्यादा समय तक। विरोधी पर किसी भी तरह का दबाव डालने के बदले इस सत्याग्रह में गांधीजी ने बिना धीरज खोए चुपचाप खुद कष्ट सहन करने वाले सत्याग्रही चुने थे। इस बीच वे कट्टरपंथी ब्राह्मणों से भी यही कहते रहे कि वे इस पूरी धरती पर किसी को भी अपना दुश्मन नहीं मानते पर सड़क से गुजरने का उनका यह आग्रह सत्य पर टिका है। वह तो गुजरेगा ही। सन् 1924-25 में चला यह वाइकोम सत्याग्रह हमें आज भी क्या-क्या नहीं सिखाता।

त्रावणकोर कोई प्रांत नहीं है, बल्कि एक विशाल नगर जैसा है। उसके नागरिक बंबई के नागरिकों की भांति कई मंजिले और एक दूसरे से सटे मकानों में नहीं रहते। वे लगभग एक मील या उससे कम दूरी पर खेतों और बगीचों से घिरे हुए छोटे-छोटे सुंदर छप्परदार मकानों में रहते हैं। मैंने ऐसा मलाबार और उसके पड़ोसी केरल प्रांत के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं नहीं देखा। समूचा त्रावणकोर एक सुंदर उद्यान या बाड़ी है, जिसमें जहां-तहां नारियल, केले, काली मिर्च और आम के पेड़ खड़े दिखाई देते हैं। यात्री इन्हीं कुंजों से होकर

गुजरता है। यात्रा दो प्रकार से की जा सकती है, एक नहरों और खाड़ियों के मार्ग से नौका द्वारा और दूसरे सड़कों के मार्ग से मोटरों द्वारा। रेलमार्ग भी है, पर बहुत कम हिस्सों में है। जलमार्ग का दृश्य बहुत ही सुंदर है। यात्रा करते हुए दोनों किनारे दिखते हैं; और जहां तक दृष्टि जाती है वहां तक दोनों किनारे बारहों मास हरे-भरे और फैले हुए एक बगीचे से दिखाई देते हैं।

मैंने इसीलिए इसे स्वर्णोद्यान कहा है। यदि कोई, सूर्यास्त से पूर्व इन नहरों और खाड़ियों से होकर धीरे-धीरे यात्रा करता हुआ इन बगीचों की ओर देखे तो उसे यही लगेगा कि पेड़ों में सोने के पत्ते लगे हुए हैं। सूर्य इन पत्तों के बीच में से झांकता है और एक गोलाकर चलते हुए सोने के पहाड़ जैसा दिखता है। मनुष्य उसको देखते हुए और ईश्वर की लीला का बखान करते हुए थकता ही नहीं है। कोई चित्रकार उनका चित्रण नहीं कर सकता। यह दृश्य क्षण-क्षण बदलता है और क्षण-क्षण अधिकाधिक सुंदर होता जाता है। ऐसे दृश्य का चित्रण कौन कर सकता है? प्रभु की इस रचना के सामने मनुष्य की कृति तुच्छ लगती है। फिर इस दृश्य को लाखों मनुष्य नित्य ही कुछ खर्च किए बिना देख सकते हैं।

यह दृश्य क्षण-क्षण बदलता है और क्षण-क्षण अधिकाधिक सुंदर होता जाता है। ऐसे दृश्य का चित्रण कौन कर सकता है? प्रभु की इस रचना के सामने मनुष्य की कृति तुच्छ लगती है। फिर इस दृश्य को लाखों मनुष्य नित्य ही कुछ खर्च किए बिना देख सकते हैं।

त्रावणकोर और असम के दृश्यों को देखकर मुझे तो ऐसा लगता है कि हिंदुस्तानियों को सृष्टि के सौंदर्य को देखने के लिए हिंदुस्तान से बाहर जाने की कोई जरूरत ही नहीं और वायु-परिवर्तन के लिए तो हिन्दुस्तान में हिमालय, नीलगिरि और आबू जैसे पहाड़ मौजूद हैं। ऐसे सुंदर देश में, जहां सभी को अपने-अपने अनुकूल जलवायु मिल सकती है, मनुष्य को संतोष क्यों नहीं होता? स्वर्गीय कवि श्री मलबारी की भाषा में कहें तो जब तक कोई मनुष्य अपने घर, अपने कूचे, अपने नगर और अपने देश के इतिहास और भूगोल के सौंदर्य का अवलोकन नहीं करता तब तक वह किसी भी दूसरे देश को देखने या जानने में कैसे समर्थ हो सकता है? इसके बिना उसके पास तुलना करने के लिए कोई मापदंड ही नहीं हो सकता; इसलिए वह देखने पर भी कुछ नहीं देख सकता। जैसे दर्जी और मोची के पास अपना नापना न हो तो वह नाप नहीं ले सकता, वैसे ही सृष्टि सौंदर्य का प्रेमी अपने देश का ज्ञान हुए बिना दूसरे देश को देखते हुए भी नहीं देख सकता। उसकी दृष्टि में तो वे ही वस्तुएं सुंदर होती हैं, जिन्हें वह

आंखें खोलकर और मुंह बाये देखता है, या उन देशों के संबंध में दूसरों ने जो कुछ लिखा है वह उसी को दोहराता है।

मुझे त्रावणकोर के प्राकृतिक दृश्य जितने सुंदर लगे, उतनी ही सुंदर वहां की राज्य-व्यवस्था भी लगी। राज्य-सरकार का सूत्र है, धर्म ही हमारा बल है। मैंने यहां की जैसी अच्छी सड़कें हिंदुस्तान में किसी दूसरी जगह नहीं देखी हैं। राज्य में कहीं अंधा-धुंधी होती है, मुझे ऐसा नहीं जान पड़ा। प्रशासकों ने बहुत वर्षों प्रजा को कोई कष्ट नहीं दिया है। राज्यतंत्र में राजा नियमों का उल्लंघन करके कोई कार्य नहीं करता। त्रावणकोर के महाराजा ब्राह्मण और क्षत्रिय माता-पिता की संतान होते हैं। दिवंगत महाराजा धर्म परायण और विद्वान माने जाते थे। कई वर्षों से त्रावणकोर में विधान सभा है। राज्य में हिंदुओं, मुसलमानों और ईसाइयों की आबादी बहुत है। छयालीस लाख से ऊपर की आबादी में लगभग आधे लोग तो ईसाई हैं। मुझे ऐसा लगा है कि सभी को किसी प्रकार के भेदभाव के बिना नौकरियां आदि दी जाती हैं। लोग अपने विचार स्वतंत्रता पूर्वक व्यक्त कर सकते हैं। शिक्षा का प्रचार जितना त्रावणकोर में है उतना और कहीं शायद ही होगा। बालकों और बालिकाओं को समान रूप से शिक्षा मिलती है। राज्य की आय का खास बड़ा हिस्सा शिक्षा की मद में खर्च किया जाता है। त्रावणकोर में अशिक्षित स्त्री-पुरुष मुश्किल से ही मिलेंगे। उसकी राजधानी त्रिवेन्द्रम में लड़कियों के लिए अलग कॉलेज है। सभी शालाओं और विभागों में अस्पृश्ययों को प्रवेश करने की अनुमति है, इतना ही नहीं, बल्कि उनके निमित्त एक निश्चित रकम प्रति वर्ष खर्च की जाती है।

बड़ी महारानी नाबालिग महाराजा की ओर से राज्य का शासन चलाती हैं और छोटी महाराजा की मां हैं। उन दोनों से मिलकर और उनकी भव्य सादगी को देखकर मैं बहुत ही प्रभावित हुआ। दोनों केवल श्वेत वस्त्र पहनते थे। एक-एक हल्के से मंगल सूत्र के अतिरिक्त उन्होंने कोई अन्य आभूषण पहना हो ऐसा मुझे दिखाई नहीं दिया।

मैंने दोनों महारानियों के भी दर्शन किए। इनमें से बड़ी महारानी नाबालिग महाराजा की ओर से राज्य का शासन चलाती हैं और छोटी महाराजा की मां हैं। उन दोनों से मिलकर और उनकी भव्य सादगी को देखकर मैं बहुत ही प्रभावित हुआ। दोनों केवल श्वेत वस्त्र पहनते थे। एक-एक हल्के से मंगल सूत्र के अतिरिक्त उन्होंने कोई अन्य आभूषण पहना हो ऐसा मुझे दिखाई नहीं दिया। न उनकी नाक में कोई आभूषण था और न कान में। मुझे उनके हाथ में हीरे या मोती की अंगूठियां भी दिखाई नहीं दीं। मैंने इतनी सादगी

तो एक मध्यवर्ग की स्त्री में भी नहीं देखी। जितने सादे उनके वस्त्र थे, उतना ही सादा उनका साज-समान था। मैंने जब इनके इस समान की तुलना धनाढ्यों के साज-सामान से की तो मुझे अपने धनाढ्य वर्ग पर बहुत तरस आया। हम इतने मोह में क्यों पड़े हैं?

मुझे दोनों महारानियों में कोई आडंबर दिखाई नहीं दिया। बाल-महाराजा मुझे अत्यंत सरल-स्वभाव लगे। वे एक विकच्छ धोती और कुर्ते के सिवा कुछ भी नहीं पहने थे। यदि महाराज होने का कोई खास चिह्न हो तो वह मैंने नहीं देखा। इन तीनों ने मेरा मन जीत लिया है। संभव है कि अधिक अनुभव होने पर मुझे अपने इस कथन में कुछ दोष दिखाई दे। मैंने दूसरे लोगों से भी पूछताछ की। किंतु मुझसे यह किसी ने नहीं कहा कि उनका मेरे ऊपर जो प्रभाव पड़ा है, वह ठीक नहीं है। मेरे कहने का यह अभिप्राय नहीं है कि इस सब सादगी के बावजूद सामान्य राज-दरबारों में जो झगड़े होते हैं, वे वहां न होंगे। किंतु वहां झगड़े हैं या नहीं, इसका पता मुझे नहीं है। मेरा धर्म दोषों की खोज करना तो है नहीं। मैं तो गुणों का शोधक और पुजारी हूं। इन गुणों को मैं जहां देखता हूं वहीं हर्ष-विभोर और चकित हो जाता हूं। इन गुणों का गान करना मुझे आता है। संसार में निर्दोष तो कोई है ही नहीं। जब मुझे ये दोष दिख जाते हैं तो उनको देखकर मुझे दुख होता है और कभी-कभी प्रसंग आने पर मैं दुखी हृदय से उनका वर्णन भी कर देता हूं।

जैसा त्रावणकोर का राजा है, वैसी ही वहां की प्रजा है। मैंने राजा और प्रजा की पोशाक में जितना साम्य यहां देखा, उतना अन्यत्र कहीं नहीं देखा। मैंने देखा कि शासकों और रैयत की पोशाक एक-सी है। मुझे जो कुछ अंतर मिला वहां रैयत अथवा उसके वर्ग में ही मिला।

जिसे ईश्वर ने कुछ धन दिया है उसको मेरी सलाह है कि वह त्रावणकोर और कोचीन की यात्रा करे।

जैसा त्रावणकोर का राजा है, वैसी ही वहां की प्रजा है। मैंने राजा और प्रजा की पोशाक में जितना साम्य यहां देखा, उतना अन्यत्र कहीं नहीं देखा। मैंने देखा कि शासकों और रैयत की पोशाक एक-सी है। मुझे जो कुछ अंतर मिला वहां रैयत अथवा उसके वर्ग में ही मिला। कुछ बहुत शिक्षित लोग अंग्रेजी पोशाक पहने मिल जाते हैं और कुछ स्त्रियां रेशमी साड़ियां पहने भी। किंतु सामान्यतः मलाबारियों की पोशाक बिना लांग की धोती और कुर्ता है। स्त्रियां भी ऐसी छोटी धोती ही पहनती हैं, पर वे ऊपर से पिछौरा या चूनरी ओढ़ती हैं और अब कुरती अथवा चोली का रिवाज चल पड़ा है।

इन प्रदेशों में खादी का प्रचार आसानी से किया जा सकता है; क्योंकि यहां की स्त्रियों को न रंग की जरूरत है और न किनारी की। उन्हें हमारी साड़ी या घाघरे जितनी लंबाई की भी जरूरत नहीं है। फिर भी कैलिको और नैनसुख ने यहां भारी तबाही मचा रखी है। यहां खादी इस आंदोलन के बाद आई है। फिर भी इस प्रदेश में सूत कातने वाले और बुनने वाले बहुत हैं। कन्याकुमारी के पास नागरकोइल कस्बा है। वहां हर हफ्ते हाट लगती है जिसमें हाथ-कता सूत बिकता है।

जिस प्रदेश में इतनी शिक्षा हो, जिसका राज्यतंत्र अच्छा हो और जहां लोगों को बहुत से अधिकार प्राप्त हों, वहां इतने भयंकर रूप में अस्पृश्यता कैसे चल रही है? यह पुराने रिवाजों की देन है। जब अज्ञान को प्राचीनता का आश्रय मिल जाता है तब वह ज्ञान माना जाने लगता है।

जिस प्रदेश में इतनी शिक्षा हो, जिसका राज्यतंत्र अच्छा हो और जहां लोगों को बहुत से अधिकार प्राप्त हों, वहां इतने भयंकर रूप में अस्पृश्यता कैसे चल रही है? यह पुराने रिवाजों की देन है। जब अज्ञान को प्राचीनता का आश्रय मिल जाता है तब वह ज्ञान माना जाने लगता है। यहां मुझे ऐसे लोग भी मिले हैं जो सच्चे मन से मानते हैं कि मंदिरों के समीप के मार्गों पर ईसाई जा सकते हैं, किंतु अस्पृश्य नहीं जा सकते। उनमें से कोई वकील या बैरिस्टर हो तो भी वह वहां से नहीं जा सकता। यहां के अस्पृश्यों में एक स्वामी हैं जो स्नान और संध्या-वंदन आदि करते हैं। उन्हें संस्कृत अच्छी तरह आती है। वे संन्यासी के वेष में रहते हैं। उनके हजारों शिष्य हैं। उनके पास हजारों एकड़ जमीन है और उन्होंने एक अद्वैताश्रम स्थापित किया है। ये स्वामीजी भी इन मार्गों पर से नहीं जा सकते।

ये मंदिर कैसे हैं? इनके इर्द-गिर्द छह फुट ऊंचा परकोटा है और उसके सहारे-सहारे बाहर रास्ते हैं। इन रास्तों पर बैलगाड़ियां भी चलती हैं लेकिन इन पर कोई अस्पृश्य नहीं जा सकता। इस प्रकार के अंधेर और अन्याय के निवारण के लिए वाइकोम में सत्याग्रह किया जा रहा है। मैंने इस प्रथा के समर्थक वहां के कट्टर सनातनियों से मिलकर विनयपूर्वक बातचीत की थी। उन्होंने इसके समर्थन में बहुत तर्क दिए; पर मुझे उनमें कोई सार दिखाई नहीं दिया। अंत में मैंने तीन सुझाव दिए और यह स्वीकार किया कि यदि वे लोग उनमें से किसी एक को मान लेंगे और उसके मानने का परिणाम चाहे सत्याग्रहियों के उद्देश्य के विरुद्ध होगा तो भी सत्याग्रह बंद कर दिया जाएगा। किंतु ये भाई तो इन सुझाव को भी मानने के लिए तैयार नहीं हुए।

इस प्रकार यह आंदोलन अब यहां आकर रुक गया है। शासक मेरे सुझावों को पसंद करते हैं; इसलिए आशा है कि कुछ ही दिनों में इस आंदोलन का शुभ अंत हो जाएगा। किंतु यह सब सत्याग्रहियों के सच्चे अर्थात विनययुक्त आग्रह पर निर्भर है। यदि वे स्वेच्छापूर्वक स्वीकार की हुई मर्यादाओं का उल्लंघन न करेंगे तो मेरा दृढ़ विश्वास है कि इसका परिणाम अवश्य ही शुभ होगा।

मैं जानता हूं कि आप मुझे इस बात के लिए तो क्षमा कर ही देंगे कि मैं खड़े होकर भाषण नहीं दे सक रहा हूं। साथ ही मैं यह भी आशा रखता हूं कि आप मेरे कुछ मिनट विलंब से आने के लिए मुझे क्षमा करेंगे। मैं अपनी ओर से आपको विश्वास दिला सकता हूं कि मेरे यहां आने में जो देरी हुई है उसका कारण व्यक्तिगत नहीं है। जिस उद्देश्य को लेकर मैं यहां आया हूं, उसी के लिए मैं सारा दिन व्यस्त रहा। आप लोग इतनी बड़ी संख्या में यहां उपस्थित हैं, यह देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता होती है, क्योंकि मैं आप सबको अपने आने का उद्देश्य बता सकूंगा।

किंतु सबसे पहले मैं उन सब लोगों को धन्यवाद देना चाहता हूं, जिन्होंने मुझे कल अभिनंदन-पत्र भेंट किए थे। जब अभिनंदन-पत्र भेंट किए जा रहे थे, उस समय मुझे एक पत्र मिला जिसमें अभिनंदन का विरोध किया गया था और मुझे विश्वास दिलाया गया था कि यह अभिनंदन-पत्र वाइकोम के रहने वाले सभी लोगों की भावनाओं का प्रतिनिधित्व नहीं करता। मैं सहर्ष इस विरोध को स्वीकार करता हूं। उस पत्र पर कुछ सज्जनों के हस्ताक्षर थे, और इसलिए जाहिर है कि कम से कम इन लोगों का समर्थन तो अभिनंदन-पत्र को या उसकी शब्दावली को प्राप्त नहीं था। मुझे इससे भी आश्चर्य नहीं हुआ कि इस अभिनंदन-पत्र को वाइकोम के सभी लोगों की स्वीकृति नहीं मिली है। मैं जानता हूं कि दुर्भाग्य से आप सब एक अत्यंत महत्वपूर्ण प्रश्न पर सहमत नहीं हैं।

जहां तक मेरा अपना प्रश्न है, अभिनंदन-पत्र का न दिया जाना ही मुझे अधिक रुचिकर लगता है। किंतु अभिनंदन-पत्र भेंट किए ही जाते हैं तो मुझे उनसे जिस सभाओं में भाषण देने होते हैं, भाषण का मसाला मिल जाता है। और इस अभिनंदन-पत्र से यह तथ्य भली-भांति प्रकट हो जाता है।

जिन लोगों ने आज मुझे अभिनंदन-पत्र दिया है उन्हें भी मैं धन्यवाद देता हूं। उसमें भी उसी विषय को, जिसके कारण मैं यहां आया हूं, उठाया गया है। वह विषय है अस्पृश्यता, आने-जाने पर रोक और उसे दूर करने का तरीका यानी वाइकोम में एक विशिष्ट प्रणाली द्वारा अपनाया गया सत्याग्रह।

जैसाकि आप जानते हैं, प्रारंभ से ही इस संघर्ष के प्रति मेरी गहरी सहानुभूति रही है और मैं इसकी हार्दिक सराहना करता हूं। संभव है कि सत्याग्रह

चलाने वालों ने इस संघर्ष में कोई गलती की हो। संसार में ऐसा कौन है जिससे गलती न होती हो, किंतु मुझे इस बात से संतोष है कि यदि कोई गलती हुई भी है तो वह जानबूझकर नहीं की गई। सत्याग्रह, अपने नाम के समान ही, कुछ हद तक एक नया सिद्धांत है। या यों कहिए कि इसमें एक पुराने सिद्धांत को नए ढंग से प्रस्तुत किया गया है।

अस्पृश्यता उन प्रश्नों में से एक है, जिसके लिए खास तरह से सत्याग्रह का सहारा लेना पड़ता है, क्योंकि सत्याग्रह स्वयं कष्ट उठाने का तरीका है। अतः इसमें उन लोगों को कष्ट नहीं दिया जाता जो इसका विरोध करते हैं, बल्कि कष्ट स्वयं ही उठाना पड़ता है। इस समय सत्याग्रहियों ने वाइकोम में यह स्थिति अपनायी है कि जो सड़कें बड़े मंदिर के पास से गुजरती हैं, उन्हें अछूत या अनुपगम्य समझे जाने वाले लोगों के लिए खोल दिया जाए। इस दावे का आधार मानवता ही है। जहां तक हिंदुओं का संबंध है ऐसी कोई भी सड़क जो जनता के अर्थात् सवर्ण हिंदुओं के लिए खुली है, उन लोगों के लिए भी खुली रहनी चाहिए जो बहिष्कृत हैं और जिन्हें अछूत या अनुपगम्य कहा जा रहा है।

मेरे नम्र विचार में उनका यह दावा स्वाभाविक और न्यायसंगत है। जैसा कि आप जानते हैं, दक्षिण अफ्रीका के लंबे प्रवास के बाद मैंने जब से भारत की जमीन पर पांव रखा है तभी से मैं स्पष्ट रूप से, निडरता के साथ तथा खुलकर अस्पृश्यता के प्रश्न पर बोलता आ रहा हूं। मैं सनातनी हिंदू होने का दावा करता हूं। मैं इस बात का भी दावा करता हूं कि मुझे अपने मतलब-भर के लिए शास्त्रों का काफी ज्ञान है। इसलिए मैं यह सुझाव देने का साहस करता हूं कि अस्पृश्यता और अनुपगम्यता के लिए, हमारे इस पवित्र देश में जैसा उन्हें व्यवहार में लाया जाता है, हिंदू शास्त्रों में न तो कोई विधान ही है और न किसी प्रकार की स्वीकृति ही।

मेरे कथन का आप न तो अनुमोदन करें और न विरोध करें; उसे केवल सुनें। मैं उन लोगों को जो हिंदू धर्म के अनुयायी होने का दावा करते हैं, जो हिंदू धर्म को अपने प्राणों के समान प्रिय समझते हैं, यह सुझाव देने का साहस करता हूं कि प्रत्येक अन्य धर्म के समान ही हिंदू धर्म को शास्त्रों की अनुमति के अलावा भी, अपने को एक सार्वभौम तर्क की कसौटी पर कसना जरूरी है। तर्क, सार्वभौम ज्ञान तथा शिक्षा के इस युग में और ऐसे युग में जिसमें विभिन्न धर्मों का तुलनात्मक अध्ययन होता हो, जो धर्म केवल अपने ही शास्त्रीय वचनों और प्रमाणों का अनुसरण करता है, मेरे नम्र विचार में असफल ही रहता है। मेरे विचार में छुआछूत मानवता पर एक कलंक है और इसीलिए हिंदू धर्म पर भी वह कलंक है। यह तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतर सकता। यह हिंदू धर्म के मूलभूत

नियमों के विरुद्ध है। हिंदू धर्म के तीन सिद्धांतों में से जिन्हें मैं यहां प्रतिपादित करना चाहता हूं, पहला है, 'सत्यान्नस्ति परोधर्मः'। अर्थात सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं है। दूसरा है, 'अहिंसा परमोधर्मः'। यदि अहिंसा का अर्थ प्रेम है तो अहिंसा जीवन का कानून है और वह सबसे बड़ा धर्म है; बल्कि वही एकमात्र धर्म है। तो फिर मैं आपसे कहूंगा कि अस्पृश्यता का सत्य के साथ सीधा विरोध है। तीसरा है, 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' अर्थात अकेला ईश्वर ही सत्य है, और सब-कुछ क्षणभंगुर है, माया है। यदि ऐसी बात है तो मैं कहता हूं कि हमारे लिए अस्पृश्यता की इस महान सिद्धांत के साथ संगति बिठाना असंभव है।

वाइकोम के सत्याग्रहियों के नाम पर और उनकी ओर से मैंने अपने इन मित्रों के सामने तीन उदार प्रस्ताव रखे हैं। ये प्रस्ताव मेरे लिए अपरिहार्य हैं। किंतु मैंने उन्हें खुली छूट दी है कि वे चाहें तो उन्हें स्वीकार करें और चाहें तो अस्वीकार करें। मैंने उन्हें समझाने की कोशिश की है कि उन्हें, चाहे परीक्षण के रूप में ही सही, ये प्रस्ताव स्वीकार कर लेने चाहिए। मुझे इस एकपक्षीय इकरार पर जरा भी संकोच नहीं हुआ है, क्योंकि उस सत्य पर जिस पर मैं निश्चित रूप से विश्वास करता हूं, और जिसका मैं प्रतिनिधित्व करता हूं, मुझे विश्वास है।

इसलिए मैं अपने कट्टरपंथी मित्रों के साथ तर्क करने आया हूं। मैं उनसे और उनके सौजन्य तथा सद्भावना से अपील करने आया हूं। आज दोपहर के बाद मुझे उनके साथ बैठने का अवसर मिला। उन्होंने मेरी बात धैर्यपूर्वक और ध्यान से सुनी। हमने बहस की, मैंने उनके विवेक से, उनकी मानवता से और उनके हिन्दुत्व से अपील की। मुझे खेद के साथ स्वीकार करना पड़ता है कि मैं उन पर प्रभाव नहीं डाल सका। मुझे आशा थी कि मैं डाल सकूंगा; किंतु निराशा एक ऐसा शब्द है जो मेरे शब्दकोश में नहीं है। मैं तभी निराश होऊंगा जबकि मैं अपने से, ईश्वर से तथा मनुष्यता से निराश हो जाऊंगा। लेकिन जैसे मैं ईश्वर पर विश्वास करता हूं, जैसे मैं इस तथ्य पर विश्वास करता हूं कि हम यहां पर एक साथ बैठे हैं, साथ ही जैसे मैं मानवता पर विश्वास करता हूं, क्योंकि हमारे सारे मतभेदों और हमारे सारे झगड़े के बावजूद मानवता जीवित रहती है, उसी प्रकार मैं इस पर भी विश्वास करता हूं कि जिस सत्य के प्रतिनिधि होने का दावा मैं इस समय कर रहा हूं वह यहां रहने वाले मेरे कट्टरपंथी मित्रों पर अपना प्रभाव डालेगा।

वाइकोम के सत्याग्रहियों के नाम पर और उनकी ओर से मैंने अपने इन

मित्रों के सामने तीन उदार प्रस्ताव रखे हैं। ये प्रस्ताव मेरे लिए अपरिहार्य हैं। किंतु मैंने उन्हें खुली छूट दी है कि वे चाहें तो उन्हें स्वीकार करें और चाहें तो तो अस्वीकार करें। मैंने उन्हें समझाने की कोशिश की है कि उन्हें, चाहे परीक्षण के रूप में ही सही, ये प्रस्ताव स्वीकार कर लेने चाहिए। मुझे इस एकपक्षीय इकरार पर जरा भी संकोच नहीं हुआ है, क्योंकि उस सत्य पर जिस पर मैं निश्चित रूप से विश्वास करता हूं, और जिसका मैं प्रतिनिधित्व करता हूं, मुझे विश्वास है।

मैं झगड़े को उत्तेजित करने और बढ़ाने के लिए नहीं आया हूं, बल्कि कट्टरपंथियों और उन लोगों के बीच जो आज मनुष्यता और न्याय के नाम पर काम करने की कोशिश कर रहे हैं, शांति और सद्भावना स्थापित करने के लिए आया हूं। कभी-कभी ऐसा लगता है कि मैं लड़ रहा हूं, लेकिन मेरा उद्देश्य कभी लड़ने का नहीं रहा, न मैंने कभी यह कोशिश की है कि लड़ाई लंबी हो, बल्कि मेरा उद्देश्य तो जल्दी से जल्दी शांति स्थापित करने का रहा है। जब मैंने असहयोग आंदोलन प्रारंभ किया था, तब एक अंग्रेज मित्र ने मुझसे कहा कि आपका असहयोग ऊपरी मन से ही है और सच कहें तो आप सहयोग के लिए ही उत्सुक हैं। मैंने तुरंत उनकी बात स्वीकार कर ली और मैंने उनसे कहा कि आपने मेरे हृदय को सही रूप में समझा है और मैं अपने कट्टरपंथी भाइयों को भी विश्वास दिलाना चाहता हूं कि मेरा इस मामले में भी यही रुख है।

बल्कि मेरा उद्देश्य तो जल्दी से जल्दी शांति स्थापित करने का रहा है। जब मैंने असहयोग आंदोलन प्रारंभ किया था, तब एक अंग्रेज मित्र ने मुझसे कहा कि आपका असहयोग ऊपरी मन से ही है और सच कहें तो आप सहयोग के लिए ही उत्सुक हैं। मैंने तुरंत उनकी बात स्वीकार कर ली और मैंने उनसे कहा कि आपने मेरे हृदय को सही रूप में समझा है और मैं अपनेकट्टरपंथी भाईयों को भी विश्वास दिलाना चाहता हूं कि मेरा इस मामले में भी यही रुख है।

सत्याग्रह चल रहा है। लेकिन यह उनके चाहते ही बंद कर दिया जाएगा। यह उन पर निर्भर करता है कि वे कोई उचित प्रस्ताव रखें। वह स्वीकार कर लिया जाएगा, केवल ध्यान यही रखना है कि उसमें सत्य का गला न घोंटा जाए। सत्याग्रही अपनी मांगें सदैव कम से कम ही रखता है। और इस संघर्ष में भी कम से कम मांग रखी गई है। इस प्रकार की उचित मांग रखना ही सही है कि जो मांगते ही स्वीकार करने योग्य हो। इसलिए यह समझ लेना चाहिए कि इस संघर्ष के बारे में मन में कोई दुराव-छिपाव नहीं है।

मैंने भारत के हिंदुओं को बार-बार बताया है कि अस्पृश्यता निवारण, मेरे लिए तथा उन लोगों के लिए जो आज उस पवित्र संघर्ष में रत हैं, क्या अर्थ रखता है। इसका अर्थ वर्णाश्रम धर्म को भंग करना नहीं है। इसका अर्थ अंतर्जातीय भोजन और अंतर्जातीय विवाह भी नहीं है। किंतु इसका इतना अर्थ जरूर है कि मानव और मानव के बीच ऐसे सामान्य संबंध जो किसी भी सभ्य समाज में होने चाहिए, स्थापित हों।

वर्तमान सत्याग्रह केवल अछूतों के उन सड़कों से गुजरने के अधिकारों की पुष्टि के लिए किया गया है जिनसे गुजरने का ईसाइयों, मुसलमानों तथा सवर्ण हिंदुओं को अधिकार है। सत्याग्रही आज मंदिर प्रवेश के लिए नहीं लड़ रहे हैं। वे स्कूलों में प्रवेश के लिए– मैं नहीं जानता कि त्रावणकोर के स्कूलों में प्रवेश पर किसी प्रकार का प्रतिबंध है या नहीं– नहीं लड़ रहे हैं।

इसका यह अर्थ जरूर है कि यदि पूजा के स्थान किसी व्यक्ति के लिए खुले हैं तो वे उन सबके लिए, जो हिंदू कहलाते हैं, खुले रहने चाहिए। इस प्रकार के बहिष्कार के लिए तो मुझे हिंदू शास्त्रों में कोई प्रमाण नजर नहीं आता। इसी प्रकार मेरा दावा है कि स्कूलों-जैसे सार्वजनिक स्थान जो कि अन्य वर्गों के लिए खुले हों, समान रूप से अछूतों के लिए भी खुले रहने चाहिए। यही बात कुओं, तालाबों तथा नदी आदि जलाशयों पर भी लागू होनी चाहिए। उन लोगों की ओर से जो अस्पृश्यता और अनुपगम्यता के विरुद्ध संघर्ष में संलग्न हैं, मेरी इतनी ही मांग है।

किंतु जहां तक वाइकोम का संबंध है, मैं स्थिति को थोड़ा और स्पष्ट कर देना चाहता हूं। वर्तमान सत्याग्रह केवल अछूतों के उन सड़कों से गुजरने के अधिकारों की पुष्टि के लिए किया गया है जिनसे गुजरने का ईसाइयों, मुसलमानों तथा सवर्ण हिंदुओं को अधिकार है। सत्याग्रही आज मंदिर प्रवेश के लिए नहीं लड़ रहे हैं। वे स्कूलों में प्रवेश के लिए– मैं नहीं जानता कि त्रावणकोर के स्कूलों में प्रवेश पर किसी प्रकार का प्रतिबंध है या नहीं– नहीं लड़ रहे हैं। यह बात नहीं कि वे ऐसा करने का दावा नहीं करते। किंतु मैं वर्तमान संघर्ष का सार आपके सामने रख रहा हूं।

चूंकि सत्याग्रह हृदय परिवर्तन और विश्वास की प्रणाली है, इसमें जबरदस्ती की गुंजाइश ही नहीं होती। इसीलिए मैं प्रसन्नतापूर्वक त्रावणकोर विधानसभा में दिए गए दीवान साहब के भाषण में कही गई बात से पूरी तरह सहमत हूं; यदि मुझे ऐसा जान पड़ा है कि वाइकोम के सत्याग्रही कट्टरपंथी हिंदुओं पर अनुचित दबाव डालने के लिए अपने सिद्धांत के विपरीत हिंसा का उपयोग करते हैं या कोई

दूसरा तरीका अपनाते हैं तो आप देखेंगे कि प्रमाण मिलने पर मैं उन तथाकथित सत्याग्रहियों से अपने को बिलकुल अलग कर लूंगा। किंतु जब तक सत्याग्रही अपने करार की शर्तों के अंतर्गत बने रहते हैं तब तक मेरा यह निश्चित कर्त्तव्य है कि मैं एक अकेले और विनम्र व्यक्ति के रूप में जो सहायता दे सकता हूं, उन्हें देता रहूं। इसलिए मैं अपनी सारी शक्ति के साथ वाइकोम के उन कट्टरपंथी ब्राह्मणों और अब्राह्मणों से जो कि इस संघर्ष के विरुद्ध हैं, अपील करता हूं कि वे संघर्ष का अध्ययन उसके सभी पहलुओं को नजर में रखकर करें और संघर्ष को विवेकदृष्टि से देखकर यदि उन्हें ऐसा लगे कि यह संघर्ष न्यायसंगत है और वे तरीके जो मानवता के अधिकारों की पुष्टि के लिए सत्याग्रहियों ने अपनाए हैं, उचित, अहिंसक और तर्कसंगत हैं तो वे न्याय और मानवता के पक्ष में खड़े हों।

मुझे इस बात की ताईद करने में प्रसन्नता होती है कि पुलिस अधिकारियों तथा सत्याग्रहियों के बीच आमतौर पर अब तक संबंध अच्छे ही रहे हैं। उन्होंने दिखा दिया है कि सभ्य और सौजन्यपूर्ण लड़ाई को किस प्रकार बिना किसी रोष के, बिना किसी तरह की कठोर बातें कहे तथा बिना किसी हिंसा के चलाया जा सकता है। मैं जानता हूं, एकाएक पूर्वग्रहों पर विजय पाना बड़ा कठिन है। अस्पृश्यता एक ऐसी कुप्रथा है जो दीर्घकाल से चली आ रही है। इसीलिए मैंने अपने सत्याग्रही मित्रों से कहा है कि उन्हें अत्यंत धैर्य से काम लेना होगा। समय हमेशा उनका साथ देता है जो धैर्य से काम लेते हैं। मेरा ख्याल है कि वाइकोम की जनता की राय भी उनके ही पक्ष में है। वाइकोम से बाहर की जनता की राय भी उन्हीं के पक्ष में है। संसार की राय उनके पक्ष में बनती जा रही है और इसलिए यदि सत्याग्रही केवल सारे नियमों का पालन करते हुए सत्याग्रह करते रहें और धीरज खोए बिना चुपचाप कष्ट सहन करते रहें तो निस्संदेह विजय उन्हीं की होगी।

त्रावणकोर की सरकार ने, जहां तक मुझे दीवान साहब के भाषण से मालूम होता है, दोनों पक्षों के प्रति समान दृष्टि रखी है। जब मैंने अपने सत्याग्रही भाईयों से यहां पर यह कहा कि दीवान साहब ने जो कुछ कहा है वह आपत्ति से परे है तो उन्होंने सहमति प्रकट की। कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि यदि समाज के दोनों पक्ष आपस में मिलकर बिना शासकीय हस्तक्षेप के इस प्रश्न का कोई तर्कसंगत तथा सम्मानपूर्ण हल निकाल लें तो यह श्रेयस्कर होगा। दीवान साहब ने तो कट्टरपंथी लोगों पर अपना मन्तव्य प्रकट कर ही दिया है। उन्होंने उनसे समय के साथ चलने के लिए तथा समय की भावना पहचानने के लिए कहा है। मुझे आशा है कि मेरे कट्टरपंथी मित्र उनकी दी हुई इस समुचित सलाह को सुनेंगे। कुछ भी हो, अपनी ओर से मैं उन्हें पूरा-पूरा विश्वास दिलाता हूं कि चाहे वे कुछ भी सोचें, चाहे जैसा व्यवहार करें, मेरे प्रस्ताव को स्वीकार करें या न करें, मैं तो

केवल हिंदू धर्म के उस रूप के आदेशानुसार कार्य करूंगा, जिसे मैं जानता हूं।

मैं सारी धरती पर किसी को भी अपना दुश्मन नहीं समझता। इसलिए उनके और अपने बीच मतभेद होने पर भी मैं उन्हें प्यार करूंगा। मैं हमेशा ईश्वर से प्रार्थना करता रहूंगा कि वह उन्हें सही दिशा में चलने की प्रेरणा दे, उनके ज्ञान-चक्षु खोले और वे यह समझकर कि भविष्य कहां जा रहा है अपने इस पद-दलित देश भाइयों के साथ न्याय करें। साथ ही मैं ईश्वर से अत्यंत दीनतापूर्वक यह प्रार्थना भी करता हूं कि यदि मैंने हिंदू शास्त्रों को गलत पढ़ा है, यदि मैंने मानवता को गलत समझा है और यदि मैंने सत्याग्रहियों को सलाह देने में गलती की हो तो वह मेरी भी आंखें खोले, मुझे अपनी गलती सुझाए और मुझे शक्ति और साहस प्रदान करे ताकि मैं अपनी गलती स्वीकार कर सकूं और अपने कट्टरपंथी भाईयों से क्षमा-याचना कर सकूं।

एक बात और कह कर मैं अपना भाषण समाप्त करूंगा। जहां अस्पृश्यता के प्रश्न पर आपके और मेरे बीच मतभेद हैं, वहां मुझे आशा है कि दूसरे प्रश्न पर जिसका संबंध देश के गरीब से गरीब लोगों से है, मतभेद होने का सवाल ही नहीं उठता। मेरा अर्थ चरखे और खद्दर से है। देश के गरीब लोगों के प्रति आपका कर्त्तव्य है कि आप चरखे को निष्ठापूर्वक अपनाएं और आपका उनके प्रति यह कर्त्तव्य भी है कि आप चरखे से उपलब्ध खद्दर को पहनें और इस तरह अपने देश के गरीब से गरीब स्त्री-पुरुषों के हाथ में दो पैसे पहुंचाने की व्यवस्था करें। जैसा कि मैंने बार-बार कहा है, मैं तब तक संतुष्ट नहीं हो सकता जब तक कि राजा और रंक, वाइसराय और उसका अर्दली सिर से पांव तक हथकते और हथबुने कपड़े न पहनने लगे।

तीसरी बात के बारे में मुझे आपसे कहने की जरूरत नहीं। वह है हिंदू-मुस्लिम एकता। इस संबंध में आपको भारत के शेष भागों को बहुत-कुछ सिखाना है। मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि त्रावणकोर में विभिन्न धर्म और जातियों के लोग बड़े मेल-जोल और सौहार्द के साथ रहते हैं। मैं कह सकता हूं कि वास्तव में है भी ऐसा ही। मुझे आशा है कि शेष भारत भी इसी प्रशंसनीय भावना का अनुसरण करेगा जो कि आप लोगों को प्रेरणा देती है। आपने धैर्य के साथ मेरा भाषण सुना है, उसके लिए मैं आप सबको धन्यवाद देता हूं। मैं इस आशा और उत्कट प्रार्थना के साथ अपना भाषण समाप्त करता हूं कि वाइकोम में जो संघर्ष चल रहा है उसका अंत केवल उसी प्रकार हो जिसे शोभनीय कहा जाए।

संपूर्ण गांधी वांगमय के खंड 26 से
10 मार्च और 29 मार्च, 1925 की सामग्री से साभार।

*

मरण हमारा जन्मसिद्ध अधिकार

काका कालेलकर

मातृभाषा मराठी, लिखा ज्यादातर हिंदी में, गुजराती में, अंग्रेजी में और प्रचार किया हिंदी का– काका साहब सचमुच देश की विभिन्नता में एकता और समरसता के सुंदर उदाहरण थे। सन् 1885 में जन्मे काका साहब सन् 1915 में गांधीजी से मिले और फिर उन्हीं के होकर रह गए। साबरमती, फिर सेवाग्राम आश्रम में लंबे समय तक गांधीजी के साथ रह कर उन्होंने गुजरात विद्यापीठ, बुनियादी शिक्षण, नवजीवन अखबार आदि के कामों में पूरा सहयोग दिया। आज बहुत कम लोगों को यह जानकारी होगी कि नागरी लिपि के सुधार के लिए भी उन्होंने बहुत काम किया था। सन् 1948 में हिन्दी शार्टहैंड लिपि और हिंदी टाईपराइटर के 'कीबोर्ड' को बनाने में भी उनका योगदान था। उन्होंने कहीं लिखा है: "मेरे भारत यात्रा वर्णन केवल साहित्य विलास नहीं हैं। ये तो भारत भक्ति का, देश भक्ति का एक प्रकार है। यह भक्ति 'एकांत' में भी हो सकती है और लोकांत में भी।"

जिस तरह दिवस और रात्रि मिलकर चौबीस घंटे का दिन बनता है, शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष मिलकर महीना बनता है– उसी तरह जीवन और मरण मिलकर व्यापक जीवन बनता है। जीवन दीर्घकाल पर फैला हुआ, तना हुआ होता है, जबकि मृत्यु एक क्षण की चीज है। आखिरी सांस कब आई कि जीना समाप्त हो गया। इस तरह मृत्यु एक क्षणिक घटना है।

मरण के बाद भी मनुष्य अपने समाज में जीवित रहता है। मनुष्य अपने जीवन में जो कर्म करता है, विचार प्रकट करता है, ध्यान, चिंतन करता है–

उसका असर उसके समाज पर होता ही है। मनुष्य ने अपने जीवन में जो-जो किया, समाज के साथ जो सहयोग किया या उसकी सेवा की, उसकी भली-बुरी विरासत उसके समाज को मिलती है और इस तरह वह समाज पर असर करता रहता है। यह उसका मरणोत्तर जीवन है।

महावृक्षों और पर्वतों की छाया दूर तक पहुंचती है। भगवान बुद्ध, महावीर और महात्मा गांधी जैसों का असर समाज में असंख्य बरसों तक अपना काम करता है। इसलिए इन लोगों को हम दीर्घजीवी या चिरजीवी कहते हैं। इस प्रकार समूचे जीवन का विचार करते हुए यह कहना पड़ता है कि मृत्यु के इस तरफ का जीवन– पूर्व जीवन– छोटा होता है, केवल तैयारी के जैसा है। सच्चा और विशाल जीवन तो मृत्यु के बाद ही शुरू होता है। अलबत्ता मृत्यु के पहले का जीवन पुरुषार्थी होता है। इस कारण उसका खूब महत्त्व है। पर मृत्यु के बाद का जीवन परिणाम-रूप होने से व्यापक और दीर्घकालिक होता है। इसलिए उसका भी महत्त्व कम नहीं होता है।

महावृक्षों और पर्वतों की छाया दूर तक पहुंचती है। भगवान बुद्ध, महावीर और महात्मा गांधी जैसों का असर समाज में असंख्य बरसों तक अपना काम करता है। इसलिए इन लोगों को हम दीर्घजीवी या चिरजीवी कहते हैं। इस प्रकार समूचे जीवन का विचार करते हुए यह कहना पड़ता है कि मृत्यु के इस तरफ का जीवन– पूर्व जीवन– छोटा होता है, केवल तैयारी के जैसा है। सच्चा और विशाल जीवन तो मृत्यु के बाद ही शुरू होता है।

मृत्यु के बाद जो जीवन जीया जाता है, उसे हमारे धर्मग्रंथों में नाम दिया है– 'सांपराय'। जो लोग अज्ञानी हैं, वे 'सांपराय' को नहीं देख पाते– 'न साम्परायः प्रतिभाति बालम्।' पर जो ज्ञानी हैं, जानकार हैं, वे मरणोत्तर जीवन को और उसके महत्त्व को भी पहचान लेते हैं। वे कहते हैं कि इतने बड़े महत्त्व के और सुदीर्घ 'सांपराय' को नुकसान पहुंचे– ऐसा कार्य मैं अपने जीवन में, पूर्ण तैयारी के काल में नहीं करूंगा।

मेधावी मनुष्य कहता है कि 'जिह्वालौल्य' को क्षणमात्र तृप्त करने के लिए अगर मैं अपथ्य आहार या अति आहार करूंगा तो दीर्घकाल तक मुझे बीमार रहना पड़ेगा और मैं आरोग्यानंद और जीवनानंद से वंचित रहूंगा। इसलिए मैं अपथ्य सेवन नहीं करूंगा। संयम के द्वारा जो उत्कट जीवनानंद प्राप्त होता है, वही करूंगा। मरणोत्तर जीवन का जिसे खयाल है और जिसको

इस बात की जाग्रति और स्मृति रहती है, उसी का जीवन शुद्ध और समृद्ध होता है।

सांपराय में स्थूल देहगत जीवन का अवकाश नहीं रहता। मनुष्य अपने समाज में ही जीवित रह सकता है और उस जीवन में उसका पुरुषार्थ अथवा प्रेरणामय जीवन बढ़ता ही जाता है। इस्लाम में एक सुंदर कल्पना पाई जाती हैः किसी आदमी ने मुसाफिर के लाभार्थ रास्ते के किनारे एक कुआं खोदा। उसके संकल्प और परिश्रम के अनुरूप इस शुभकर्म का उसे पुण्य मिला। अब दिन-पर-दिन जितने मुसाफिर उस कुएं से लाभ उठाते, उतना इस आदमी का सबाब (पुण्य) बढ़ता जाता है। लेकिन अगर किसी वजह से यात्रियों का रास्ता बदल गया और लोगों ने इस रास्ते जाना छोड़ दिया तो पुण्यकारी का पुण्यसंचय ज्यादा नहीं बढ़ेगा। पुण्यकारी का सबाबमय जीवन– पुण्य-जीवन– बढ़े या घटे– यह समाज के हाथ में है। लोग अगर उसे याद करते रहें, तो उसकी मरणोत्तर आयु दीर्घ होगी। लोग उसे भूल गए, उसके काम का असर मिट गया तो उसके सांपराय की मियाद खत्म हो जाएगी।

जो कुछ भी ज्ञान मैंने प्राप्त किया, वह सबको दे दूं, सबका दुख और संकट अपना ही मान लूं और सबके साथ जो मुझे मिले– उतना ही मेरा अधिकार है, ऐसा समझ कर चलूं तो मृत्यु के इस पार का और उस पार का जीवन एकरूप होगा। मृत्यु पर विजय यही है।

अब सवाल यह आता है कि अगर मरण के बाद हमारा जीवन सामाजिक स्वरूप का ही रहने वाला है, तो मरणपूर्व के 'इस जीवन में' हम समाज-जीवन ही व्यतीत क्यों न करें? स्वार्थवश संकुचित होकर और इंद्रियवश होकर प्रमत्त जीवन, असमाजी जीवन व्यतीत क्यों करें? जिस तरह मरणोत्तर जीवन सामाजिक रहेगा, वैसा ही जीवन अगर मृत्युपूर्व व्यतीत किया तो मृत्यु के इस पार और उस पार एक ही प्रकार का शुभ जीवन होगा।

जिसे हम समाजवादी ढांचा कहते हैं, वह हमारे आध्यात्मिक, सामाजिक जीवन का ही बाह्यरूप है। जिसे हम सर्वोदयकारी पुण्य-जीवन कहते हैं– वह उसका आंतरिक स्वरूप होगा। वेदांत ने उसे नाम दिया है– विश्वात्मैक्य भावना। आत्मौपम्य उसकी साधना है।

आत्मौपम्य की यह कल्पना कुछ स्पष्ट करनी चाहिए। मनुष्य को जब भूख लगती है तो वह आहार ढूंढ़ता है। आहार को प्राप्त करके उसका उपभोग करता है। यह हुआ प्राकृतिक जीवन। लोग इसे पशु-जीवन भी कहते

हैं। लेकिन, मेरे पेट में भूख की वेदना शुरू होते ही अगर मैं औरों की भूख का साक्षात्कार करूं और उनकी क्षुधा का निवारण करने का यत्न करूं तो वह धार्मिक जीवन हुआ। वह सांपराय के लिए पोषक होगा। मैं जो कुछ भी पुरुषार्थ करूं, उसका लाभ सबको देने की अगर वृत्ति रही तो वह सर्वोदयकारी विश्वात्मैक्य प्रेरित ब्राह्मजीवन होगा। जो कुछ भी ज्ञान मैंने प्राप्त किया, वह सबको दे दूं, सबका दुख और संकट अपना ही मान लूं और सबके साथ जो मुझे मिले– उतना ही मेरा अधिकार है, ऐसा समझ कर चलूं तो मृत्यु के इस पार का और उस पार का जीवन एकरूप होगा। मृत्यु पर विजय यही है।

एक साधु छोटी-सी झोपड़ी में रहता था। हाथ-पांव फैला कर आराम से सोता था। एक दिन जोरों से बारिश आई। किसी ने बाहर से आवाज देकर पूछा– 'मेरे लिए भीतर कुछ जगह है?' साधु ने कहा अवश्य। उसने अपने फैले हुए हाथ-पांव समेट लिए और दोनों पास-पास सो गए। बारिश बढ़ी और दूसरे दो अन्य यात्री आ गए। उन्होंने पूछा कि जगह है? दोनों ने कहा 'अवश्य! आप भीतर आईए।' अब दो के चार हो गए। झोपड़ी में अब लेटने की, सोने की जगह नहीं बची थी। चार आदमी बैठ कर बातें करने लगे और ऐसे ही रात व्यतीत करने का उन्होंने निश्चय किया। इतने में चार और आ गए। उनका भी इन चारों ने स्वागत किया। अब बैठना नामुमकिन हो गया। आठ-के-आठ झोपड़ी में खड़े होकर भगवान का भजन करने लगे और बारिश से भगवान ने बचाया– इसका आनंद मानने लगे! यही आत्मौपम्य है। जो कुछ भी पाया है, वह सबका है, सबके साथ समविभाग करके पाना है। आत्मौपम्य का तरीका यही है। यह आत्म-ऐक्य की साधना है।

अगर किसी साथी को अपने काम की पूर्व तैयारी में शरीक होने को हम बुलाएं और फलभोग के समय उसे दूर कर दें तो उसे शिकायत करने का अधिकार रहेगा। जीवन के बाद मरण के अधिकार का भी यही न्याय है। किसी ने सुंदर शब्दों में कहा है– मरण हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है।

अब अगर ऐसी साधना हम करते रहें तो मृत्यु का डर नहीं रहेगा। मृत्यु भी जीवन-साधना का एक अंग ही है। सुख और दुख, जीवन और मरण, दोनों साधना रूप हैं। सुख और जीवन कुछ छिछले हैं। उनकी ज्ञानोपासना मंद होती है। दुख, संकट, निराशा और मरण– इनकी साधना गहरी होती है। इनके द्वारा जीवन का साक्षात्कार संपूर्ण होता है। इनकी ज्ञानोपासना तेज

होती है। इसलिए साधना में इनका महत्त्व अधिक है।

अगर जिंदगी में किसी को केवल दुख ही दुख मिले तो उसकी साधना बधिर हो जाएगी। इसके विपरीत किसी के जीवन में अगर सुख ही सुख रहे, तो उसका जीवन भी उथला-सा ही होगा। उसका आत्मौपम्य टूट जाएगा और उसका सफल जीवन भी साधना की दृष्टि से विफल होगा। इसलिए सुख और दुख, सफलता और विफलता– दोनों प्रचुर मात्रा में मिलें– यह है मृत्यु का साक्षात्कार। मृत्यु के साक्षात्कार के द्वारा ही मनुष्य-जीवन का सर्वांगीण गहरा अनुभव हो सकता है।

सामान्य जन के लिए मृत्यु को पहचानना, उसका यथार्थ स्वरूप समझाना कठिन है। फिर समझाने का कोई प्रयत्न भी नहीं होता। नहीं तो मृत्यु हमारा सबसे श्रेष्ठ मित्र है। मरणोत्तर जीवन और पुनर्जन्म एक चीज नहीं है। दोनों का भेद समझना चाहिए। हम मानते हैं कि मनुष्य मृत्यु के बाद अपने कर्मों के अनुसार नया जन्म लेता है। एक जीवन की साधना पूरी होने पर जो कुछ भी अनुभव मिला, उसे लेकर हम नए जीवन में प्रवेश करते हैं।

अगर किसी साथी को अपने काम की पूर्व तैयारी में शरीक होने को हम बुलाएं और फलभोग के समय उसे दूर कर दें तो उसे शिकायत करने का अधिकार रहेगा। जीवन के बाद मरण के अधिकार का भी यही न्याय है। किसी ने सुंदर शब्दों में कहा है– मरण हमारा जन्म-सिद्ध अधिकार है। अगर किसी को मौत से वंचित रहने की सजा मिले तो मनुष्य के लिए जीना दुश्वार हो जाएगा।

ईसाई ग्रंथों में एक वचन हम पाते हैंः 'पाप के फलस्वरूप मौत नाम की रोजी मिलती है।' 'दी वेजिज आफ सिन इज डैथ।' वैसे देखा जाए तो सामान्य अर्थ में यह वचन गलत है। मरण तो सबके लिए अवश्यंभावी है। पाप बढ़ने से मनुष्य की आत्मजाग्रति क्षीण होती है। उसका जीवन आत्मविमुख और देहात्मवादी होता है।

संतों और महापुरुषों ने मृत्यु पर विजय पाने की जो बात की है, वह यही है। मामूली मौत से न बुद्ध भगवान बच सके, न महावीर। सबको शरीर छोड़ना ही पड़ा। लेकिन उन्होंने आत्मनाश रूपी मृत्यु पर विजय पाई। इसी को वे ढूंढ़ते थे।

सामान्य जन के लिए मृत्यु को पहचानना, उसका यथार्थ स्वरूप समझाना कठिन है। फिर समझाने का कोई प्रयत्न भी नहीं होता। नहीं तो

मृत्यु हमारा सबसे श्रेष्ठ मित्र है। मरणोत्तर जीवन और पुनर्जन्म एक चीज नहीं है। दोनों का भेद समझना चाहिए। हम मानते हैं कि मनुष्य, मृत्यु के बाद, अपने कर्मों के अनुसार नया जन्म लेता है। एक जीवन की साधना पूरी होने पर जो कुछ भी अनुभव मिला, उसे लेकर हम नए जीवन में प्रवेश करते हैं। एक पुरुषार्थी परदेश गया। वहां परिश्रम करके उसने अपने व्यापार का खूब विस्तार किया। लेकिन, बूढ़ा होने पर जब वहां का आकर्षण कम हो गया और स्वदेश आने की इच्छा हुई– तब उसने वहां की सारी प्रवृत्तियां समेट लीं। देना-पावना चुका दिया और अपनी सारी कमाई इकट्ठी करके वह लौट आया। मृत्यु का भी वैसा ही रूप-स्वरूप है। जब प्रवृत्ति अनहद बढ़ती है और साधना के तौर पर काम नहीं आती, तब उसका सारा फल इकट्ठा करके नए जन्म की नई प्रवृत्ति, नई साधना मनुष्य शुरू करता है।

जेल से मुक्ति पाने का आनंद किसी भी चीज से कम नहीं होता, ठीक इसी तरह इहलोक का जीवन पूरा करते हुए मृत्यु का वरण भी ऐसा ही होना चाहिए।

इसे एक तरह से मृत्यु कह सकते हैं। लेकिन इसके लिए दुख नहीं करते। एक स्थान छोड़ने का मामूली अल्पकालीन दुख जरूर रहता है, लेकिन वह किसी को रोकता नहीं।

जेल से मुक्ति पाने का आनंद किसी भी चीज से कम नहीं होता, ठीक इसी तरह इहलोक का जीवन पूरा करते हुए मृत्यु का वरण भी ऐसा ही होना चाहिए।

जैन भारती, बीकानेर से साभार

*

खुफिया तंत्र और खुला काम

राजगोपाल पी.वी.

पिछले कई सालों से मैं देख रहा हूं कि किसी अन्य सरकारी विभाग की बनिस्बत खुफिया विभाग के लोग सामाजिक कार्यकर्ताओं के आसपास ज्यादा घूम रहे हैं। अभी हाल ही की मेरी छत्तीसगढ़ यात्रा में मैंने देखा कि पुलिस और खुफिया विभाग बड़े पैमाने पर सामाजिक कार्यकर्ताओं को तंग कर रहा है। इन विभागों के लोग एक-एक दिन में दो-चार बार सामाजिक कार्यकर्ताओं के फोन खटखटाते हैं। वे इन सामाजिक कार्यकताओं के घर, दफ्तरों के आसपास जाते रहते हैं। उनके बारे में सीधे जानकारी लेने की अपेक्षा आसपास के लोगों से उनकी गतिविधियों के बारे में जानकारी इकट्ठा करते हैं ताकि लोगों के मन में कुछ संदेह पैदा हो।

मैं इसी प्रकार की बातें देश के अन्य हिस्सों में भी सुनता हूं। खुफिया विभाग के लोग कार्यक्रमों के फोटो खींचते हैं। जो लोग ऐसे सामाजिक कार्यक्रम में भाग लेते हैं, उनकी सूची बनाते हैं। वे इस बात में कोई रुचि नहीं रखते कि हम इन सभाओं में क्या विचार-विमर्श कर रहे हैं। वे इस बात की सूचना ऊपर नहीं देते कि गांव में रहने वाले लोग किस प्रकार की समस्याओं से जूझ रहे हैं। उन्हें सिर्फ इस बात में रुचि है कि कौन किस दिशा में जा रहा है उसकी सूचना ऊपर तक पहुंचाएं।

ज्यादातर उनका व्यवहार डरावना-सा दिखाई देता है। वे इन सामाजिक कार्यकर्ताओं से सीधे बात नहीं करते, बल्कि सुनी सुनाई बातों के आधार पर रिपोर्ट बनाते हैं। आप नहीं जानते कि वे आपको किस प्रकार से दिखा रहे हैं। छत्तीसगढ़ और मध्यप्रदेश जैसे प्रदेशों में गांधीवादी जन आंदोलनों को नक्सलवाद के सहयोगी के रूप में प्रदर्शित किया जा रहा है। एक बार खुफिया विभाग जब अपनी रिपोर्ट बना लेता है तो बस बार-बार उसे ही दुहराता रहता है। फिर किसी एक दिन अचानक आप देखते हैं कि आपका नाम ब्लैक लिस्ट में शामिल कर

दिया गया है। यह पूरी की पूरी प्रक्रिया बिना संस्था या संगठन के जिम्मेदार साथियों से बातचीत किए, वे अपने दृष्टिकोण के आधार पर करते हैं।

अभी मैं कन्याकुमारी से दिल्ली की यात्रा पर हूं। मैंने केरल में भी खुफिया विभाग को इसी प्रकार से व्यवहार करते देखा। वे इस बात के लिए बिल्कुल इच्छुक नहीं हुए कि आकर बातचीत करें और इस यात्रा के उद्देश्यों को समझें। वे ये समझने के लिए कभी भी बैठक में नहीं बैठे कि लोगों की समस्याएं क्या हैं। वे चाय की दुकानों में लोगों से बातचीत करके जानकारी इकट्ठा करने में ज्यादा इच्छुक दिखाई दिए। मैंने तो मुख्यमंत्री, कलेक्टर और पुलिस अधीक्षक को स्वयं पत्र लिख कर यह बताया था कि मैं एक यात्रा पर हूं और इस यात्रा का उद्देश्य क्या है।

छत्तीसगढ़ और मध्यप्रदेश जैसे प्रदेशों में गांधीवादी जन आंदोलनों को नक्सलवाद के सहयोगी के रूप में प्रदर्शित किया जा रहा है। एक बार खुफिया विभाग जब अपनी रिपोर्ट बना लेता है तो बस बार-बार उसे ही दुहराता रहता है। फिर किसी एक दिन अचानक आप देखते हैं कि आपका नाम ब्लैक लिस्ट में शामिल कर दिया गया है।

मैंने अपने पत्र में यह भी स्पष्ट रूप से लिखा था कि यह यात्रा भूमि सुधार के लिए है और मैं जमीन और जीविकोपार्जन से संबंधित मुद्दों तथा गरीबों पर पड़ने वाले इसके प्रभावों को समझने की कोशिश कर रहा हूं। मैं आशा करता हूं कि खुफिया विभाग द्वारा हम क्या कर रहे हैं इसकी निगरानी कराने के बजाए प्रशासन अपनी ओर से एक ऐसे व्यक्ति को नामित करे जो हमारे साथ बैठ सके, मुद्दों को समझ सके और सरकार तक लोगों की समस्याओं और बातों को पहुंचा सके।

एक समय था जब मुझे विश्वास था कि खुफिया विभाग लोगों की समस्याओं को ऊपर तक पहुंचाने का काम करता है। परंतु धीरे-धीरे मुझे लगने लगा कि उनको इस सबमें जरा भी रुचि नहीं है। उन्होंने जो रिपोर्ट अपने ऊपर के लोगों तक पहुंचाई, उस पर कार्यवाही होते हुए मैंने कभी नहीं देखा। दुर्भाग्य से इस देश में खुफिया विभाग वह नहीं कर रहा है जो उसे करना चाहिए। उदाहरण के लिए मुंबई में किया गया आक्रमण खुफिया विभाग के काम की असफलता का बयान करता है। ऐसी ही घटना पहले संसद पर तथा दिल्ली हाई कोर्ट में आक्रमण कर दुहराई गई थी।

मैं आश्चर्यचकित हूं कि जिस खुफिया विभाग को देश की रक्षा तथा लोगों के हित में काम करने के लिए बनाया गया है वे अक्सर इस देश के सामाजिक

कार्यकर्ताओं के काम की जासूसी कर रहे हैं। मुझे लगता है कि यह देश के संसाधनों का पूरी तरह से दुरुपयोग है। मैंने पढ़ा है कि स्विस सरकार इस बात का रिकॉर्ड रखती थी कि उसके देश के कौन से लोग रूस और चीन की यात्रा पर गए हैं। हाल ही में उन्होंने इस प्रकार की पुरानी फाइलों को फेंक दिया है क्योंकि उन्हें लगने लगा है कि यह शर्मनाक है कि एक देश की सरकार अपने ही देश के नागरिकों की जासूसी करे।

मैं नहीं जानता कि हमारी सरकार कब इस बात को स्वीकार करेगी कि वह बहुत सारे संसाधन और समय अपने ही देश के नागरिकों की जासूसी पर खर्च किए जा रही है। बहुत से सामाजिक कार्यकर्ता एक तरह से सरकार की मदद ही तो कर रहे हैं। विकास से जुड़े हुए सरकारी अधिकारी और कर्मचारी सामाजिक कार्यकर्ताओं के साथ यात्रा करने के लिए एक साथ क्यों नहीं निकलते ताकि गरीब और वंचितों की समस्याओं को वे सुनें, समझें और उन समस्याओं का समाधान करें। खुफिया विभाग और पुलिस जैसे लोगों को सामाजिक कार्यकर्ताओं को नियंत्रित करने, उनकी जासूसी करने में लगने से बेहतर तो यही होगा न!

स्विस सरकार इस बात का रिकॉर्ड रखती थी कि उसके देश के कौन से लोग रूस और चीन की यात्रा पर गए हैं। हाल ही में उन्होंने इस प्रकार की पुरानी फाइलों को फेंक दिया है क्योंकि उन्हें यह लगने लगा है कि यह शर्मनाक है कि एक देश की सरकार अपने ही देश के नागरिकों की जासूसी करे।

तामिलनाडु के तेनी में मेरी यात्रा के दौरान मेरा अनुभव भयावह रहा है। पुलिस ने कोई तीन घंटे तक होटल के मेरे कमरे में मुझे लगभग कैद करके रखा। वे इस बात की पूछताछ करते रहे कि मैं यहां के आदिवासियों के गांवों में क्यों घूम रहा हूं! उनका व्यवहार ऐसा था कि लग रहा था मानो सुदूर आदिवासी गांवों में जाना कोई गुनाह है। फिर कहीं ऊपर से जिला प्रशासन को फोन गया। जिला प्रशासन ने फोन किया– नीचे के कर्मचारियों को। अपने व्यवहार के लिए माफी मांगता फोन मेरे पास आने में कुछ वक्त लगा।

यह घटना मुझे सोचने के लिए मजबूर करती है कि सामान्य सामाजिक कार्यकर्ताओं के साथ इन विभागों का व्यवहार कैसा होता होगा। खुफिया विभाग को इससे कोई मतलब नहीं है कि आप मार्क्स, अंबेडकर, गांधी या विनोबा से प्रभावित हैं। उनके लिए तो बस गांवों में जाना और लोगों की समस्याओं पर चर्चा करना देश के लिए खतरा है। समस्या का समाधान करने के बजाय समस्या

पर बात करने वालों की आवाज को बंद कर देना या दबा देना ही उन्होंने अपना काम मान लिया है।

मुझसे कहा गया है कि नक्सलवाद के बढ़ने के कारण ही इतनी ज्यादा खुफिया जानकारी जुटानी पड़ती है। अगर यह कारण है तो सरकारी अधिकारियों को डी. बंदोपाध्याय की रिपोर्ट पढ़नी चाहिए। इसे खुद प्लानिंग कमीशन ने गठित किया था और मैं भी उसका एक सदस्य था। यह रिपोर्ट स्पष्ट रूप से कहती है कि नक्सलवाद का आधार लोगों की समस्याएं हैं अगर हम उन समस्याओं के समाधान पर चर्चा नहीं करेंगे तो इस हिंसा को रोकना कठिन है।

पुलिस ने कोई तीन घंटे तक होटल के मेरे कमरे में मुझे लगभग कैद करके रखा। वे इस बात की पूछताछ करते रहे कि मैं यहां के आदिवासियों के गांवों में क्यों घूम रहा हूं! उनका व्यवहार ऐसा था कि लग रहा था मानो सुदूर आदिवासी गांवों में जाना कोई गुनाह है।

मैं शुरू से ही राष्ट्रपति और विभिन्न राज्यों के खुफिया विभाग के प्रमुखों को लिखता रहा हूं कि देश में हिंसा फैलने के कारणों को समझें और सामाजिक कार्यकर्ताओं के साथ मिलकर समस्या के समाधान का उपाय ढूंढ़ें। यह समस्या केवल पुलिस से सुलझने वाली नहीं है। सामाजिक-आर्थिक समस्याओं को कानून व्यवस्था संबंधी समस्याओं की तरह ठीक नहीं किया जा सकता। करना भी नहीं चाहिए। अक्सर मैं इस समस्या के समाधान में अपना सहयोग देने के लिए कहता रहता हूं। जयप्रकाशजी के नेतृत्व में हम लोग चंबलघाटी में हिंसा की एक बड़ी समस्या का समाधान कर पाए थे। सरकार के करोड़ों रुपए बचे। अनेक डाकुओं ने आत्मसमर्पण किया। मुझे दुख है कि सरकार के खुफिया विभाग ऐसी बड़ी घटना से भी कुछ सीख न सके।

सामान्य सरकारी कर्मचारियों सामान्य सामाजिक कार्यकर्ताओं का मनोबल तोड़ने में लगे रहते हैं। सरकार काफी संसाधन भी खर्च करती रहती है। यह खेल लंबे समय से चल रहा है। अब सरकार को यह खेल बंद कर देना चाहिए। समस्या के समाधान के लिए पूरी ईमानदारी से ताकत लगानी चाहिए। हमारे देश के सभी आदिवासी क्षेत्रों में बाहर के लोग आकर आदिवासियों का शोषण कर रहे हैं। उनके संसाधनों को छीन रहे हैं। अगर कोई सामाजिक कार्यकर्ता इस प्रकार के लगातार चलने वाले शोषण के बारे में लोगों को जागरूक करता है तो बिचौलिए और संसाधनों से खेलने वाले लोगों को इस प्रकार के काम से खतरा दिखाई देता है। बाहर से आए हुए लोगों में से कुछ ने तो आदिवासियों की जमीन

भी ले ली है। कुछ शराब बेच रहे हैं जो पहले से ही कमजोर आदिवासियों को और कमजोर बना रही है।

ऐसे लोगों को सामाजिक कार्यकताओं से खतरा महसूस होता है ये लोग खुफिया विभाग से मिल जाते हैं। घोषित करवा देते हैं कि सामाजिक कार्यकर्ता तो आए दिन समस्याएं खड़ी करते रहते हैं। सामाजिक कार्यकर्ताओं को हथियारबंद समूहों, नक्सलियों का हितैषी भी बता देते हैं। वे गरीबों के शोषण को रोकने का प्रयास कर रहे साथियों का हर तरह से मनोबल तोड़ने का प्रयास करते हैं। मध्यप्रदेश के एक वनरक्षक ने अपने ऊपर के अधिकारियों से कहा कि सामाजिक कार्यकर्ता नक्सल हैं। ऊपर के अधिकारी ने भी उसी प्रकार का गाना-गाना शुरू कर दिया। कुछ समय तो लगा परंतु फिर मुख्यमंत्री ने स्वीकारा कि यह कहानी बनाई गई है। लगभग सभी लोग, जिसमें वनरक्षक भी शामिल हैं, आदिवासियों से पैसे और शराब वसूलते हैं। वे सब्जी, अनाज, दूध, मुर्गा और शहद की मांग भी करते हैं। जलावन की लकड़ी इकट्ठा करने या पशु चराने गई महिलाओं के साथ दुर्व्यवहार भी करते हैं।

सरकारी अधिकारियों को डी. बंदोपाध्याय की रिपोर्ट पढ़नी चाहिए। इसे खुद प्लानिंग कमीशन ने गठित किया था और मैं भी उसका एक सदस्य था। यह रिपोर्ट स्पष्ट रूप से कहती है कि नक्सलवाद का आधार लोगों की समस्याएं हैं। अगर हम उन समस्याओं के समाधान पर चर्चा नहीं करेंगे तो इस हिंसा को रोकना कठिन है।

जब ऐसा भ्रष्टाचार और शोषण चारों ओर व्याप्त हो तब सामाजिक कार्यकर्ताओं को अपना काम करने के लिए स्थान बहुत सीमित हो जाता है। परिस्थिति ऐसी हो जाती है कि वनरक्षक, राजस्व के अधिकारी, कर्मचारी, बिचौलिए, ठेकेदार कोई भी इन गांवों में ऐसे सामाजिक कार्यकर्ताओं को बर्दाश्त नहीं करता। फिर राजनैतिक लोग भी नाखुश हैं क्योंकि सामाजिक कार्यकर्ता उनकी जवाबदेही की बात करता है। सरकारी अधिकारी नाखुश हैं क्योंकि हम भ्रष्टाचार की बात करते हैं। उद्योग के लोग नाखुश हैं क्योंकि हम संसाधनों के न्यायपूर्ण बंटवारे की बात करते हैं। ऐसे माहौल में सामाजिक कार्यकर्ताओं को गांव में रहकर काम करने की गुंजाइश काफी कम हो गई है।

इन सारी परिस्थितियों के बावजूद अगर कोई कुछ काम कर रहा है तो पुलिस और खुफिया विभाग उसके पीछे पड़े हैं। सरकार में सबसे पहले किसे ये सदबुद्धि आएगी– ये एक बहुत बड़ी चुनौती है। किसी न किसी स्तर पर सरकार को यह तो समझना चाहिए कि शोषकों को हतोत्साहित करने के बजाय

सामाजिक कार्यकर्ताओं को हतोत्साहित करना बहुत ही शर्मनाक बात है। यह समय है जब हर प्रकार की हिंसा को खत्म करने का प्रयास किया जाए न कि उन सामाजिक कार्यकर्ताओं का शिकार किया जाए, जो गरीबों, वंचितों को छोटी-छोटी मदद पहुंचा कर कुछ राहत देने का काम कर रहे हैं।

नक्सलवाद एक समस्या है। लेकिन इसके लिए सामाजिक कार्यकर्ता जिम्मेदार नहीं है। देश की आर्थिक व्यवस्था और विकास के नाम पर आदिवासियों के संसाधनों का लगातार शोषण इसका कारण है जो इन सशस्त्र समूहों के लिए जगह बना रहा है। इस हिंसा से राजनैतिक लोग, उद्योगपति और खनन कार्य में लगे हुए लोग लाभान्वित हो रहे हैं। कोई भी समझदार आदमी समझ सकता है कि सशस्त्र समूहों के विस्तार के पीछे उनके द्वारा व्यापारी घरानों और गैरकानूनी खनन करने वालों से वसूला गया पैसा है। खुफिया विभाग को अभी और कितना समय लगना चाहिए जब वह नीचे की सच्चाईयों को ऊपर तक पहुंचा सकें? कितने समय तक वे सच्चाईयों को छुपा कर रखेंगे और अपनी तनख्वाह को न्यायसंगत सिद्ध करने के लिए कब तक सामाजिक कार्यकर्ताओं का शिकार करते रहेंगे? मुझे विश्वास है कि खुफिया विभाग के कुछ लोग अपने भीतर की आवाज सुनेंगे और सच्चाई को सबके सामने रखेंगे।

खुफिया विभाग को अभी और कितना समय लगना चाहिए जब वह नीचे की सच्चाईयों को ऊपर तक पहुंचा सके? कितने समय तक वे सच्चाईयों को छुपा कर रखेंगे और अपनी तनख्वाह को न्यायसंगत सिद्ध करने के लिए कब तक सामाजिक कार्यकर्ताओं का शिकार करते रहेंगे?

मैं उस दिन का इंतजार कर रहा हूं।

श्री राजगोपाल एकता परिषद के अध्यक्ष हैं।
पिछले वर्ष इनके नेतृत्व में लगभग एक लाख लोगों ने जल, जंगल और जमीन के प्रश्न को लेकर ग्वालियर से दिल्ली तक की एक लंबी पदयात्रा प्रारंभ की थी।

*

देवासः पसीने से उठा जलस्तर

मीनाक्षी अरोड़ा और सिराज केसर

मां चामुंडा और मां तुलजा देवियों के वास का शहर है देवास। 17वीं शताब्दी में इस शहर को शिवाजी के सेनापति साबू सिंह पंवाज ने बसाया था। चंदबरदाई द्वारा लिखी गई 'पृथ्वीराज रासो' में भी शहर का उल्लेख है। उज्जैन से वापस दिल्ली लौटते समय यहां पृथ्वीराज ने अपनी सेना का पड़ाव डाला था। दो देवियों का यह जगह 15 अगस्त 1947 की आजादी के पहले के कालखंड में दो रियासतों की राजधानी भी थी। 18वीं शताब्दी के अंत तक 'देवास बड़ी पांती' रियासत और 'देवास छोटी पांती' रियासत दोनों ने देवास की बसाहट को आबाद रखने के लिए जमकर तालाब, कुएं, बावड़ियों का निर्माण किया था। महारानी यमुना बाई साहेब ने पानी के काम को लगातार बढ़ाते रहने के लिए एक संस्था भी बनाई थी। संस्था लोगों को कुआं, बावड़ी, तालाब आदि बनाने के लिए मदद भी देती थी। राजा-महाराजाओं और समाज के सामूहिक श्रम से बने मीठा तालाब, मेढ़की तालाब, मुक्ता सरोवर के साथ ही हजार के करीब कुएं और बावड़ी शहर में पानी के अच्छे, सुंदर प्रबंध की याद दिलाते हैं।

राज बदला। अंग्रेज आए। उन्होंने तालाबों और पानी के प्रबंध को अंग्रेजी राज का हिस्सा बना दिया। समाज को तोड़ने के लिए समाज के सत्कर्म को मिटाने की हर कोशिश अंग्रेजी राज ने की। परिणाम भयावह हुआ।

1993 में प्रकाशित पुस्तक 'आज भी खरे हैं तालाब' में लिखा हैः "इन्दौर के पड़ोस में बसे देवास शहर का किस्सा तो और भी विचित्र है। पिछले 30 वर्ष में यहां के सभी छोटे-बड़े तालाब भर दिए गए और उन पर मकान और कारखाने खुल गए। लेकिन फिर 'पता' चला कि इन्हें पानी देने का कोई स्रोत नहीं बचा है! शहर के खाली होने तक की खबरें छपने लगी थीं। शहर के लिए पानी जुटाना था पर पानी कहां से लाएं? देवास के तालाबों, कुओं के बदले रेलवे स्टेशन पर दस दिन तक दिन-रात काम चलता

रहा। 25 अप्रैल, 1990 को इंदौर से 50 टेंकर पानी लेकर रेलगाड़ी देवास आई। स्थानीय शासन मंत्री की उपस्थिति में ढोल नगाड़े बजाकर पानी की रेल का स्वागत हुआ। मंत्रीजी ने रेलवे स्टेशन आई 'नर्मदा' का पानी पीकर इस योजना का उद्घाटन किया। संकट के समय इससे पहले भी गुजरात और तमिलनाडु के कुछ शहरों में रेल से पानी पहुंचाया गया है। पर देवास में तो अब हर सुबह पानी की रेल आती है, टेंकरों का पानी पंपों के सहारे टंकियों में चढ़ता है और तब शहर में बंटता है।"

पिछले 30 वर्ष में यहां के सभी छोटे-बड़े तालाब भर दिए गए और उन पर मकान और कारखाने खुल गए। लेकिन फिर 'पता' चला कि इन्हें पानी देने का कोई स्रोत नहीं बचा है! शहर के खाली होने तक की खबरें छपने लगी थीं। शहर के लिए पानी जुटाना था पर पानी कहां से लाएं? देवास के तालाबों, कुओं के बदले रेलवे स्टेशन पर दस दिन तक दिन-रात काम चलता रहा। 25 अप्रैल, 1990 को इंदौर से 50 टेंकर पानी लेकर रेलगाड़ी देवास आई।

फिलहाल तो पीने के पानी की रेलगाड़ियों का क्रम रुक गया है पर अब सौ से डेढ़ सौ किलोमीटर दूर से पाईप लाइनों द्वारा देवास शहर को पानी उपलब्ध कराया जा रहा है। खंडवा-खरगोन के मंडलेश्वर से, नेमावर से और शाजापुर के लखुंदर बांध से देवास शहर की प्यास बुझाई जा रही है।

यह तो रहा शहर का हाल। पर देवास जिले के 1,067 गांवों को कहां से पानी मिले– यह तो किसी भी सरकार ने सोचा नहीं। पाइपों द्वारा देवास शहर की प्यास तो बुझाई जाती रही मगर रेल पटरियों और पाइपों से दूर बसे गांवों की चिंता भला किसे होती।

अंग्रेजी राज के बाद आए अंग्रेजीदां राज में गांव-समाज के पास नलकूप की तकनीक पहुंची। सभी ने नलकूपों को आधुनिक खेती के सबसे बेहतर विकल्प के रूप में प्रचारित किया। 60-70 के दशक से ही नलकूप खनन और पानी खींचने वाली मोटरों के लिए बड़े पैमाने पर कर्ज और सुविधाएं उपलब्ध कराई गईं। देवास और उसके आस-पास के इलाकों में नलकूप खनन की जैसे बाढ़ आ गई।

आज यहां के कुछ गांवों ने तो 500-1000 नलकूप खोद दिए हैं। देवास जिले के इस्माइल खेड़ी गांव में नलकूपों की संख्या लगभग 1000 के करीब है। पूरे देवास के गांवों में जमकर नलकूप खोदे गए। एक-एक किसान ने 10 से 25 नलकूप खोद डाले। इन कारणों से पानी मिला। 1975 से लेकर 85 तक

कृषि में थोड़ी-बहुत बढ़ोत्तरी भी दिखी। पर 10-20 सालों में ही धरती का पानी नीचे जाने लगा। 60-70 फुट पर मिलने वाला पानी 300-400 फुट के करीब पहुंच गया। मंहगाई बढ़ी। सन् 2000 तक नलकूप गहरे से गहरे खोदने की मजबूरी ने नलकूप खुदाई को और मंहगा कर दिया। गहरे नलकूप खोद-खोद कर किसान कर्जे में गहरे गिरता गया। कभी चड़स और रहट से सिंचाई करने वाला देवास का किसान नलकूपों के बोझ से लदता गया। किसानों में पलायन की स्थिति पैदा होने लगी। पानी के लगातार दोहन ने नलकूपों में आने वाले पानी की धार कमजोर कर दी। 7-7 इंच के नलकूपों में भी पानी एक इंच से मोटी धार में नहीं आ पाता था। इतनी कम धार में सिंचाई की बात तो दूर, पीने के पानी के लाले तक पड़ने लगे। बहुत गहरे से पानी निकाल कर खेतों में डालने से नलकूपों में कई ऐसे खनिज आने लगे जिससे खेत खराब होने लगे। परिणाम हुआ कि 70-90 के दशक में किसानों ने खेती कम की, जमीन बेचने का काम ज्यादा किया।

नलकूपों को आधुनिक खेती के सबसे बेहतर विकल्प के रूप में प्रचारित किया। 60-70 के दशक से ही नलकूप खनन और पानी खींचने वाली मोटरों के लिए बड़े पैमाने पर कर्ज और सुविधाएं उपलब्ध कराई गईं। देवास और उसके आस-पास के इलाकों में नलकूप खनन की जैसे बाढ़ आ गई। आज यहां के कुछ गांवों ने तो 500-1000 नलकूप खोद दिए हैं।

"किसी से दुश्मनी निकालनी हो तो उसके यहां नलकूप लगवा दो। उसकी जमीन खराब हो जाएगी। वह बर्बाद हो जाएगा।" यह कहते हैं टोंकखुर्द तहसील के हरनावदा गांव के रघुनाथ सिंह तोमर। रघुनाथ सिंह लगभग 90 एकड़ जमीन के किसान हैं। पर सन् 2005 में उनकी आर्थिक स्थिति बहुत अच्छी नहीं थी। समय से सिंचाई का पानी न उपलब्ध होना उनके लिए खेती को घाटे का सौदा बना गया। रघुनाथ सिंह जानते थे कि उन्हें पानी का ठीक प्रबंध करना ही होगा। वे निश्चिंत हो चुके थे कि वे यदि तालाब बना लें तो उनकी समस्या का हल निकल जाएगा। रघुनाथ सिंह ने तालाब बनाने से पहले अपने भाई से मदद की गुहार लगाई। लेकिन भाई ने सिंचाई के लिए तालाब बनाने को बेवकूफी और समय की बर्बादी समझा। इसलिए मदद करने से इंकार कर दिया।

रघुनाथ सिंह ने हिम्मत नहीं हारी। उन्होंने अकेले ही दस फुट गहरा एक हेक्टेयर का तालाब अपने खेत की सिंचाई के लिए बनाया। तालाब

बनकर तैयार हो गया। 15 बीघा के खेत की सिंचाई तालाब ने कर दी। प्रति बीघा पर 350 किलोग्राम चने की फसल हुई जो आमतौर पर पिछले कुछ वर्षों से कोई 150 किलोग्राम ही होती रही है। इस तरह उनको लगभग एक लाख का अतिरिक्त मुनाफा हुआ। तालाब बनाने में मात्र 52 हजार रुपए खर्च किए गए थे। तालाब से हुई सिंचाई से फसल ने उन्हें दुगना मुनाफा दे दिया। इस अर्थशास्त्र ने कई लोगों को और भाई को भी तालाब के फायदे समझा दिए। रघुनाथ सिंह ने अपने दृढ़ निश्चय से पूरे गांव के सामने एक नई मिसाल रख दी थी।

सन् 2005 में इस किसान के तालाब को देखकर जिले के दूसरे गांवों में भी लोगों ने तालाब बनाने शुरू किए। देवास के पानी के इतिहास में यह वह बिंदु था, वह क्षण था जहां से उसकी दिशा बदल गई थी। अब नलकूप रघुनाथ सिंह तोमर के लिए बहुत उपयोगी नहीं रह गया था। सारी सिंचाई तालाब से होने लगी। तब एक साल बाद उन्होंने अपने तालाब का जन्मदिन मनाया और नलकूप की अंत्येष्टि की!

उन्हीं दिनों देवास के कलेक्टर ने जिले में जलसंकट की स्थिति देखते हुए किसानों की एक बड़ी सभा बुलाई ताकि कुछ नीतियां बनाई जा सकें। कुछ नए फैसले लिए जा सकें। किसान रघुनाथ सिंह तोमर ने कलेक्टर को अपना अनुभव बताया। कलेक्टर ने देखा कि तालाब बनाने के लिए किसानों को पैसा मुहैया करवाने के संबंध में कोई सरकारी नीति है नहीं। और न कोई बैंक इस पर कर्जा देता है। तब कलेक्टर की चिंता देख कृषि विभाग ने किसानों की कुछ मदद करने का निश्चय किया। देवास में कृषि विभाग के श्री मोहम्मद अब्बास ने सात हजार ऐसे बड़े किसानों की सूची बनाई, जिनके पास खुदाई के काम करने के लिए ट्रेक्टर था। उनसे बात की गई। लोगों तक इस अभियान को पहुंचाने के लिए इसे 'भागीरथ अभियान' कहा गया। जो किसान तालाब बना रहे थे, उन्हें 'भगीरथ कृषक' और बनने वाले तालाबों को 'रेवा सागर' नाम दिया गया। तालाब निर्माण से किसानों ने सौ फीसदी जमीन पर रबी और खरीफ दोनों फसलें लेना शुरू किया। इन किसानों ने कृषक संगोष्ठियों में अपने अनुभवों को साझा करना शुरू किया, गांव-गांव खुद अपने खर्च से दौरा कर अन्य किसानों को इससे जोड़ा। किसानों को बताया कि अपने ही खेत में तालाब बनाना संपन्नता की कुंजी है। एक से एक करते हुए इलाके के किसानों ने अपने खेतों में 6,000 से ज्यादा तालाब बनाकर स्वावलंबन की एक नई परिभाषा गढ़ दी है।

हरनावदा गांव के बड़े बूढ़े बताते हैं कि सालों पहले इस इलाके में

लगभग हर किसान के पास अपना एक तालाब हुआ करता था। जल संकट की शुरूआत तो तब हुई जब लोगों ने सिंचाई के पारंपरिक स्रोतों को नजरअंदाज करना शुरू कर दिया और तालाबों को खेती के लिए भरना और उन पर कब्जा करना शुरू कर दिया। बड़े लोगों ने सार्वजनिक जलस्रोतों पर कब्जे कर लिए और बचे-खुचे स्रोतों की हालत बद से बदतर होती चली गई। किसी ने उनके पुनरुद्धार के बारे में नहीं सोचा। ऐसे में नलकूप ने संकट को और हवा दे दी। पानी के लिए किसानों ने कर्जे लेकर नलकूप लगवाने शुरू कर दिए। खुद श्री तोमर बताते हैं कि वे 25 साल तक अपने खेतों में यहां-वहां नलकूप लगवाते रहे। लेकिन अब जब से उन्होंने तालाब बनाया है, उसका फायदा होता देखकर हर कोई अब ऐसा ही कर रहा है।

लोगों ने अपने आप लगभग 1700 तालाब बना डाले। लोगों के उत्साह को देखकर सरकार ने इससे सीख लेकर फिर बलराम तालाब योजना बनाई। इसकी मदद से लगभग 4000 तालाब और बन गए हैं।

लोगों ने अपने आप लगभग 1700 तालाब बना डाले। लोगों के उत्साह को देखकर सरकार ने इससे सीख लेकर फिर बलराम तालाब योजना बनाई। इसकी मदद से लगभग 4000 तालाब और बन गए हैं। बलराम तालाब योजना में प्रति तालाब अस्सी हजार से एक लाख रुपया किसान को दिया जाता है।

आज इन तालाबों ने छोटे और मध्यम किसानों के ट्यूबवेलों को भी रिचार्ज कर दिया है। इनके पास छोटी-छोटी जोत हैं। ये उन पर तालाब नहीं बना सकते। लेकिन पड़ोस में बड़ी जोत पर बने तालाबों की वजह से उनके भी नलकूप अब रिचार्ज हो गए हैं।

आज टोंकखुर्द तहसील के धतुरिया गांव में 300 परिवार हैं, और तालाब हैं 150। ये सभी तालाब सन् 2006 में बनाए गए थे। पानी की कमी के कारण इनमें से ज्यादातर किसानों पर कर्ज था। तालाब बनने के बाद अच्छी फसल, ठीक आमदनी ने 2 साल में ही इनके पिछले कर्ज चुकता करवा दिए हैं। गांव का ही नहीं आज धीरे-धीरे जिले का नक्शा बदल चला है। अब किसान पहली फसल में मूंग, उड़द, सोया और दूसरे अनाज उगाते हैं। दूसरी फसल में चना और चंदौसी गेहूं के साथ-साथ आलू, प्याज, मिर्च आदि भी बोते हैं। चंदौसी गेहूं उत्तम गुणवत्ता वाला पारंपरिक गेहूं माना जाता है। पहले मवेशियों के लिए चारा खरीदना पड़ता था। अब किसान हरा चारा खुद

उगा रहे हैं और इसे बेच रहे हैं। इस अच्छे हरे चारे से दूध का उत्पादन भी बढ़ गया है। जब से तालाब बनाने का सिलसिला शुरू हुआ है, यहां के गांवों में गायों की संख्या में बढ़ोत्तरी हुई है। भैरवान खेड़ी नाम के गांव में 70 परिवार हैं। उनके पास छोटी-छोटी जोत हैं। इस गांव में जीविका का मुख्य स्रोत दूध ही है। आज यहां गांव में 18 तालाब हैं।

जिले के 100-150 गांवों में सौ से ज्यादा तालाब बने हैं। सबसे ज्यादा तालाब धतूरिया गांव में बनाए गए हैं। यहां 165 तालाब हैं। टोंककला में 132 तालाब हैं। गोरवा में 150 से ज्यादा तालाब हैं। हरनावदा, लसूडलिया ब्राह्मण, चिड़ावद और जिरवाय गांव में 100 से ज्यादा तालाब बने हैं। क्षेत्रफल की दृष्टि से बड़े तालाबों में खारदा गांव की चर्चा होती है। वहां 8-10 एकड़ के तालाब हैं।

जिले के 100-150 गांवों में सौ से ज्यादा तालाब बने हैं। सबसे ज्यादा तालाब धतूरिया गांव में बनाए गए हैं। यहां 165 तालाब हैं। टोंककला में 132 तालाब हैं। गोरवा में 150 से ज्यादा तालाब हैं। हरनावदा, लसूडलिया ब्राह्मण, चिड़ावद और जिरवाय गांव में 100 से ज्यादा तालाब बने हैं।

आज देश दुनिया की कई संस्थाएं इन गांवों में घूमने आ चुकी हैं। देवास के देहाती क्षेत्र का जलस्तर 200 से 400 फुट नीचे पहुंच गया था। अब कुछ इलाकों में तो यह 30-40 फुट या उससे भी कम है। गांवों के इस सुंदर काम का प्रभाव शहर देवास पर भी पड़ा है। देवास शहर का जलस्तर 300 फुट से भी नीचे चला गया था। वह अब 170 फुट पर आ गया है।

शासन और समाज यदि इस काम को मिल कर अच्छे ढंग से करते रहें तो पिछले चालीस पचास बरस की गलतियां दो-चार बरस में ही ठीक की जा सकेंगी।

श्री सिराज केसर 'इंडिया वाटर पोर्टल' हिंदी के संपादक हैं।
सुश्री मीनाक्षी अरोड़ा 'वाटर कीपर एलाइन्स' से जुड़ी हुई हैं।

*

तिब्बतः आत्मदाह का ताप

राधा भट्ट

इस पत्र के माध्यम से मैं आपका ध्यान तिब्बत में हो रही आत्मदाह की भयानक घटनाओं की तरफ खींचना चाहती हूं। बिना किसी को नुकसान पहुंचाए अपने प्राणों को न्योछावर कर देने का यह दुखद सिलसिला पिछले कई महीनों से लगातार जारी है। अब तक कोई 95 लोग अपनी जान दे चुके हैं। चीन में बाहर निकलने वाली खबरों पर बेहद कड़ी निगरानी रखी जाती है। तो भी अपने प्राण होम कर देने की जो वजह सामने आ रही है वह एक-सी हैः तिब्बत की आजादी और परम पावन दलाईलामा की घर वापसी।

पिछले दौर में संसार के नक्शे में कई बदलाव हुए हैं। पड़ौसी राज्य नेपाल और भूटान में राजशाही का अंत हुआ है और लोकतंत्र की वापसी हुई है। उधर सोवियत रूस और चेकोस्लोवाकिया जैसे देशों में स्वतंत्र हुए नए राज्यों का उदय हुआ है। तिब्बत के लोगों को इस सबसे प्रेरणा मिली है। उन्हें गरिमा के साथ जीने का अवसर और बुनियादी मानव अधिकार प्राप्त करने की आशा की दिशा में बढ़ने का बल मिला है। इसी से पता चलता है कि अपना विरोध जताने के लिए तिब्बत के लोग आत्मदाह जैसे कठोर कदम उठाने की जरूरत क्यों महसूस करते हैं। अपनी हताशा और निराशा को जाहिर करने का दूसरा कोई जरिया उन्हें नजर नहीं आ रहा है।

दुर्भाग्य से चीन की सरकार इस दुखद प्रसंग में किसी भी तरह का सकारात्मक माहौल नहीं चाहती। आत्मदाह के इस भयानक सिलसिले को रोकने के लिए मेरा आप से निवेदन है कि आप स्वयं चीन की सरकार से इस विषय पर संवाद स्थापित करें। उनके नुमाइंदों को इस बात के लिए तैयार किया जाए कि वे तिब्बत के लोगों की चिंताओं व कष्टों को शांति से सुनें और उन पर कुछ सकारात्मक कदम उठाने का प्रयास करें।

इन दुखद घटनाओं से जुड़ी कुछ महत्वपूर्ण बातों की तरफ आपका ध्यान विशेष रूप से खींचना चाहती हूं:

अब तक आत्मदाह करने वाले लोगों में 90 प्रतिशत युवा हैं। इनकी सभी की उम्र 30 वर्ष से नीचे है। इनमें से कोई भी युवा अपने आध्यात्मिक गुरु दलाई लामा से कभी नहीं मिला था और न उसने स्वतंत्र तिब्बत को देखा था। अलबत्ता जन्म से लेकर अपने दाह तक तो आजाद तिब्बत के विचार और परमपावन के विरुद्ध लगातार चलने वाला साम्यवादी दुष्प्रचार रोजाना खुराक की तरह पिलाया गया था।

इन आत्मदाहों की कोई दो तिहाई घटनाएं उन इलाकों में हुई हैं, जिन्हें चीन तिब्बत का हिस्सा भी मानने से इन्कार करता है। सन् 1951 में जब चीन ने तिब्बत का अधिग्रहण किया था, उस समय ये इलाके 'खाम' और 'आमदो' प्रांत में आते थे। सन् 1960 में तिब्बत के पुनर्गठन के बाद चीन ने इन इलाकों को युन्नान सीचुआ, क्यूंघई और गांजू में मिला लिया था। इस सबसे साफ होता है कि चीन तिब्बत की सम्प्रभुता और उसके अस्तित्व को लेकर कितना नकारात्मक रहा है।

अब तक आत्मदाह करने वाले लोगों में 90 प्रतिशत युवा हैं। इनकी सभी की उम्र 30 वर्ष से नीचे है। इनमें से कोई भी युवा अपने आध्यात्मिक गुरु दलाई लामा से नहीं मिला था और न उसने स्वतंत्र तिब्बत को देखा था। अलबत्ता जन्म से लेकर अपने दाह तक उसे तो आजाद तिब्बत के विचार और परमपावन के विरुद्ध लगातार चलने वाला साम्यवादी दुष्प्रचार रोजाना खुराक की तरह पिलाया गया था।

इतना ही नहीं पिछले कुछ सालों में तिब्बत में हान चीनियों को बाहर से लाकर बड़ी संख्या में बसाया गया है। इस नई आबादी के बीच तिब्बती अपने ही घर में पराए और अल्पसंख्यक होकर रह गए हैं।

इन सारी ओछी हरकतों के बावजूद तिब्बती लोगों ने आत्मदाह के माध्यम से अपने आप को ही भयंकर क्षति पहुंचाना तय किया, बजाय नई आबादी यानी हान चीनियों और पुलिस पर बम, चाकू गोली चलाने के। ऐसी भी खबरें लगातार आती रही हैं कि चीन की पुलिस ने आत्मदाह कर रहे युवाओं को बचाने के बदले, उन पर लात-घूंसे चलाने तक का बेहद भद्दा काम किया है। कई मामलों में तो हान चीनियों ने आग में लिपटे सत्याग्रहियों को पत्थर तक मारने का काम किया है। आत्मदाह के ऐसे कई मामलों में उन युवाओं की जान बचाई जा सकती थी। लेकिन चीनी

पुलिस ने ऐसे लोगों के तुरंत उपचार की कोई सुविधा कभी भी उपलब्ध नहीं कराई।

आत्मदाह की ये दुखद घटनाएं कोई एक दिन का परिणाम नहीं हैं। यह तो एक औपनिवेशिक शासक द्वारा लंबे समय से जीने के अधिकार की घोर उपेक्षा का परिणाम है। उपेक्षा इतनी कि अकेलेपन की गहराई तक पहुंच जाए।

तिब्बत की भीतरी हालत और उसके सारे पक्षों को देखकर ऐसा लगता है कि सही सोचने वाले हम कुछ लोगों ने, दुनिया के देशों ने अपनी नैतिक जिम्मेवारी ठीक से नहीं निभाई है। पहले तो हमने साम्राज्यवादी चीन के फार्मूले को तिब्बत के लिए ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया। दूसरे हमने यह भी विश्वास कर लिया कि एक शक्तिशाली एकाधिकारवादी सरकार तिब्बत जैसे छोटे राष्ट्र की आजादी का सम्मान करेगी। हमने तिब्बत को चीन से अलग रखने की कोई कोशिश नहीं की। हम अपने को इस भयानक अन्याय का साझीदार बनने से रोक सकते थे।

ऐसी भी खबरें लगातार आती रही हैं कि चीन की पुलिस ने आत्मदाह कर रहे युवाओं को बचाने के बदले, उन पर लात-घूसे चलाने तक का बेहद भद्दा काम किया है। कई मामलों में तो हान चीनियों ने आग में लिपटे सत्याग्रहियों को पत्थर तक मारने का काम किया है।

हमें पूरा यकीन है कि तिब्बत की समस्या केवल और केवल आपसी बातचीत के जरिए ही सुलझाई जा सकती है। लिहाजा हमें दुनिया के मंच पर एक आम राय बनाने की जरूरत है। ऐसा करके हम तिब्बत की समस्या का शांतिपूर्ण हल ढूंढ़ने के लिए चीन पर नैतिक दबाव डाल सकते हैं। तिब्बत के विषय में आखिरी आवाज तिब्बत की ही होनी चाहिए, किसी और की नहीं। हमें यकीन है कि कोई भी सभ्य शक्ति या देश तिब्बती लोगों के निर्णय की स्वतंत्रता में बाधक नहीं बन सकता।

महात्मा गांधी के सच्चे अनुयायी के नाते हम लोग उचित और सार्थक प्रयासों में पूरा विश्वास रखते हैं। इसलिए हम आशा करते हैं कि महामहिम और आपकी सरकार के अन्य सम्मानीय सदस्य, और आपके देश के प्रतिष्ठित नागरिक सभी अपने तईं चीन की सरकार से तिब्बत में सद्भावपूर्ण माहौल बनाने के लिए कहेंगे। आप सबका ऐसा मिला जुला आग्रह तिब्बत को उसकी आजादी और मानव अधिकार दिलाने में सहायक होगा।

हमारी इन कोशिशों से तिब्बती युवाओं का अनमोल जीवन बच सकता है। आज ये युवा अपने को अलग-थलग महसूस करते हैं। वे एक सम्मानजनक जीवन जीने के अपने मूल अधिकार से वंचित हैं।

हमारा यह छोटा-सा कदम हमारी पीढ़ी को शर्मसार होने से बचा सकता है। जब हमें कुछ कहना चाहिए, पर हम कहते नहीं, चुप रह जाते हैं तो हम पाप ही करते हैं। इसमें सबसे ज्यादा महत्वपूर्ण है कि पूरा संसार हमारे इस सामूहिक और अहिंसात्मक प्रयत्न की सराहना करेगा। हमारे लिए उन युवाओं को भूल जाना, जो जीवन के सबसे जरूरी अधिकार की मांग करते हुए आत्मदाह कर रहे हैं, कितना दुखद है। मानव सभ्यता के इतिहास में शायद ही अपने अधिकार को पाने के लिए आत्मदाह जितना भयानक विकल्प कभी आया हो!

तिब्बत के युवाओं के प्रति हमारी यह उपेक्षा, हमारा यह असहयोग दुर्भाग्य से उन हजारों लोगों और आंदोलनों को एक गलत संकेत देगा जो आज अपने अधिकार के लिए संघर्ष कर रहे हैं। आज हमारा यह विचित्र मौन उन्हें अपने रास्ते तक बदलने के लिए मजबूर कर सकता है।

सभी देशों के राष्ट्रपतियों और
प्रधानमंत्रियों को लिखे एक लंबे पत्र के कुछ
प्रमुख अंश। लेखिका गांधी शांति प्रतिष्ठान की अध्यक्ष हैं।

*

इल्तिजा

जाबिर हुसेन

घने पेड़ों का यह लंबा सिलसिला कहां जाकर खत्म होता है, कम से कम मुझे इसका इल्म नहीं। इल्म हो भी कैसे, आज इस इलाके में मेरी तैनाती का पहला दिन है।

सभी जानते हैं, महकमे और इसके बाहर के लोग, सभी, कि मैंने हर मुमकिन कोशिश की थी इस इलाके में अपनी तैनाती रुकवाने की। अपने असर-रसूख का भी मैंने भरपूर इस्तेमाल किया था, जात-बिरादरी तक की दुहाई देते हुए अपने तबादले को बदलवाने के भी मैंने अथक प्रयास किए। लेकिन सिर्फ नाकामी मेरे हाथ लगी।

महकमे का सबसे बड़ा अफसर अपनी बात पर अड़ गया था। उसने तो मेरे लंबी छुट्टी पर चले जाने की धमकी का भी कोई असर कबूल नहीं किया। जो भी करना हो, तबादले की नई जगह पर जाकर ही करो, इससे पहले नहीं। उस बड़े अफसर ने मेरी अर्जी नामंजूर करते हुए कहा था।

इस पोस्टिंग को लेकर मेरी रंजिश की कोई इंतहा नहीं थी। लाचार होकर मुझे यहां आना पड़ा था। सो भी यह सोचकर कि ज्वाइन करते ही लंबी छुट्टी की दरखास्त दे दूंगा। लेकिन किस्मत को कुछ और ही मंजूर था।

दफ्तर में मेरी हाजिरी के पहले ही, मेरे लिए महकमे के सबसे बड़े अफसर का आदेश मौजूद था। मुझे तुल्सियान कमीटी की रिपोर्ट की सिफारिश की रौशनी में तुरंत आवश्यक कदम उठाने को कहा गया था।

तुल्सियान कमीटी की रिपोर्ट मैंने देखी तक नहीं थी, पढ़ने और उसकी सिफारिशें जानने का सवाल ही कहां पैदा होता था। मातेहती अफसरों ने मुझे रिपोर्ट की एक कॉपी उपलब्ध कराई। लोहे वाली अलमारी के किसी कोने में रखी यह रिपोर्ट अंदर-बाहर गर्द से पटी थी।

रिपोर्ट मेज पर रखते समय एक मातेहती अफसर ने धीमे स्वर में मुझे बताया कि महकमा सबसे पहले उस सिफारिश पर अमल कराना चाहता है, जिस में जंगल के बूढ़े पेड़ों को काट कर हटा देने की बात कही गई है।

इस काम को अंजाम देने के लिए ही दरअसल इलाके में मेरी तैनाती हुई थी। महकमे ने मुझे तीन दिन का समय दिया था।

आज मेरी तैनाती का पहला दिन था।

दफ्तर से निकलते वक्त महकमे के आला अफसरों के प्रति मेरा मन गुस्से से भरा था। आखिर क्या समझ रखा है इन्होंने। मशीनी कल-पुर्जा, या काठ का उल्लू! पहले तो जी में आया लिखकर भेज दूं कि तीन दिन में यह काम मुमकिन नहीं, तीन महीने में भी नहीं। भरे-पूरे जंगल में बूढ़े पेड़ों की तलाश कोई इतना आसान काम नहीं कि मिनटों में संपन्न हो जाए। फिर मैं इलाके से अच्छी तरह वाकिफ भी तो नहीं हूं। महकमे वालों ने पेड़ों की गिनती की है या नहीं, इसकी भी मुझे जानकारी नहीं। कैसे हो सकता है आखिर तीन दिनों में यह मुश्किल काम।

तुल्सियान कमीटी की रिपोर्ट मैंने देखी तक नहीं थी, पढ़ने और उसकी सिफारिशें जानने का सवाल ही कहां पैदा होता था। मातेहती अफसरों ने मुझे रिपोर्ट की एक कॉपी उपलब्ध कराई। लोहे वाली अलमारी के किसी कोने में रखी यह रिपोर्ट अंदर-बाहर गर्द से पटी थी।

इसी उधेड़बुन में था कि फोन की घंटी बजी। दूसरी तरफ महकमे का वही आला अफसर था, जिसने बूढ़े पेड़ों की कटाई का हुक्म दिया था।

मेरा फैक्स मेसेज पहुंचा?

'जी, अभी नहीं।'

'ठीक है, पहुंचता ही होगा। लेकिन तुम इसका इंतेजार मत करो। सरकार का फैसला है, सारे बूढ़े पेड़ काट देने हैं। उनकी जगह नए पेड़ लगेंगे। नए पेड़, जो अगले सौ, दो सौ, साल जिंदा रहेंगे, जो हमारे पर्यावरण को स्वस्थ रखेंगे। सख्ती से इस फैसले को लागू करना है। आज ही से यह काम शुरू करो। शाम-रात तक बताओ, कितने बूढ़े पेड़ कटे। तुम्हारा अगला प्रोमोशन इसी पर टिका है।'

आला अफसर बोलता गया। मेरे लिए सिर डुलाने और 'जी' कहने के सिवा कोई रास्ता नहीं बचा था।

'खामोश क्यों हो? बोलते क्यों नहीं? अफसर ने अपनी बात समाप्त करते हुए रोबदार लहजे में कहा।

'जी, बस अभी-अभी आपका फैक्स मेसेज प्राप्त हुआ। दरअसल उसे ही देख रहा था मैं। आपने आज, इसी वक्त, काम शुरू करने की ताकीद की है। सोचता हूं, आज ज्वाइन करके मातेहती अफसरों से विचार-विमर्श कर लूं। इसके बाद काम की योजना बनाऊं।

मेरा वाक्य पूरा हो, इसके पहले बड़ा अफसर घुड़की-भरे अंदाज में बोला–

'तुम्हें वहां सोचने-विचारने की खातिर नहीं भेजा गया। यह काम हमारा है, महकमे का है, तुम्हारा नहीं। हमने सोच-विचार करके ही फैसला किया है। तमाम बूढ़े पेड़ों को काट डालना है, उसकी जगह नए पेड़ लगेंगे। अब आगे किसी बहस की जरूरत नहीं। हुक्म की तामील करो, शाम-रात तक रिपोर्ट भेजो और आज काटे गए पेड़ों की गिनती बताओ। तुम्हारे अमलों का एक दस्ता जंगल की तरफ जा चुका है। दफ्तर में कुर्सी तोड़ने की बजाए फील्ड में जाओ। ढिलाई बरती तो प्रोमोशन रुक जाएगा। इन्क्रीमेंट रुकेगा, सो अलग।'

'तुम्हें वहां सोचने-विचारने की खातिर नहीं भेजा गया। यह काम हमारा है, महकमे का है, तुम्हारा नहीं। हमने सोच-विचार करके ही फैसला किया है। तमाम बूढ़े पेड़ों को काट डालना है, उसकी जगह नए पेड़ लगेंगे। अब आगे किसी बहस की जरूरत नहीं। हुक्म की तामील करो, शाम-रात तक रिपोर्ट भेजो और आज काटे गए पेड़ों की गिनती बताओ।'

बड़े असफसर के साथ आगे और बातचीत की गुंजाइश नहीं थी।

मैंने घड़ी देखी। सुबह के नौ बज रहे थे। गाड़ी से उतारा गया मेरा सामान अब भी दफ्तर के बाहर वाले बरामदे में पड़ा था। होल्ड ऑल, फाइबर बैग और किताबों का एक बंडल!

सामने खड़े अपने चपरासी बाबूलाल को मैंने कहा–

'इन्हें यहीं कहीं एक किनारे डाल दो, शाम में लौट कर अपना कमरा ठीक करूंगा।'

बाहर जीप तैयार खड़ी थी।

राजधानी वाले अफसर ने ठीक ही कहा था, महकमे का एक दस्ता साजो सामान के साथ पहले ही जंगल की तरफ जा चुका था।

जहां आकर जीप एक हिचकोले के साथ रुक गई, ठीक वहीं से शुरू होता है घने पेड़ों का वह लंबा सिलसिला, जिसका अंत कहां है, मुझे नहीं मालूम। मेरे से पहले गए अमलों को भी शायद इसका इल्म नहीं।

मेरा अंदेशा सही था। पेड़ों की गिनती नहीं हुई थी। उन पर कोई संख्या दर्ज नहीं थी। हां, पेड़ों के दूर-दूर तक फैले तनों पर, जगह-जगह, कुछ लकीरें जरूर उकेरी गई थीं, और कुछ नाम भी जरूर अंकित किए गए थे। नाम, जो कहीं-कहीं छालों के मर-मिट जाने से पहचान में नहीं आते थे। पेड़, जिनकी बेतरतीब शाखाएं चारों दिशा में जमीन तक लटक-लटक सी गई थीं, और जिन्हें देखने से किसी तपस्वी की जटाएं याद हो आती थीं। पेड़, जो सिलसिलेवार नहीं

थे, कतारबंद नहीं थे। जो बस यूं ही, घने-घने, जहां-तहां, झुंड-झुंड, उग-उग कर उम्रदराज हो गए थे। इन्हें तरतीब में लाना, महकमे की नजर में एक जरूरी काम था।

जंगल में, जंगल के संकेतों पर काबू पाने के लिए एक जरूरी काम!

बेशुमार पेड़ों के हुजूम से गुजरते-गुजरते मैंने अपने अमलों से पूछा–

'बता सकते हो, इनमें कौन-से पेड़ बूढ़े हैं, जिन्हें काटने के लिए हमें यहां भेजा गया है?

'सारे के सारे, जिन की शाखाएं जमीन तक झूल गई हैं, और जिनके तने दूर-दूर तक फैल गए हैं, सब के सब बूढ़े हैं। तुल्सियान कमीटी ने अपनी रिपोर्ट में ऐसा ही माना है। महकमा भी यही चाहता है कि हम जल्द से जल्द इन पेड़ों को काट कर गिरा दें। बोझ हैं ये पेड़, दूसरे पेड़ों के उगने के रास्ते की रुकावट। बूढ़े पेड़ इसी तरह जमीन छेके रहेंगे तो आखिर नए पौधे कहां लगेंगे, नए पेड़ कहां उगेंगे। कमीटी मानती है, हमारी सेहत के लिए इन्हें गिरा देना जरूरी है।

'सारे के सारे, जिनकी शाखाएं जमीन तक झूल गई हैं, और जिनके तने दूर-दूर तक फैल गए हैं, सब के सब बूढ़े हैं।' तुल्सियान कमीटी ने अपनी रिपोर्ट में ऐसा ही माना है। महकमा भी यही चाहता है कि हम जल्द से जल्द इन पेड़ों को काट कर गिरा दें। बोझ हैं ये पेड़, दूसरे पेड़ों के उगने के रास्ते की रुकावट। बूढ़े पेड़ इसी तरह जमीन छेके रहेंगे तो आखिर नए पौधे कहां लगेंगे, नए पेड़ कहां उगेंगे।

'सेहत के लिए... 'मैं ऊबड़-खाबड़ जमीन पर चलते-चलते बुदबुदाया।

'क्या होगी, इन पेड़ों की उम्र?'

'यही कोई दो-ढाई सौ साल, इससे कम नहीं।'

'गिरते क्यों नहीं, आंधी-तूफान में भी?'

'कहना मुश्किल है। शहर में तो पंद्रह-बीस वर्षों में ही हल्की-फुल्की आंधी से भी पेड़ गिर जाते हैं, जड़ें उखड़ जाती हैं। लेकिन हमारे इस जंगल में पेड़ जल्दी मरते नहीं। दो सौ, तीन सौ साल बीतने पर भी नहीं।'

'तो फिर कमीटी उन्हें क्यों मारना चाहती है?'

'कमीटी कहती है, पेड़ बेकायदा उग आए हैं। इन्हें कायदे में लाना जरूरी है। इसके अलावा, बूढ़े पेड़ों को जाना भी चाहिए, कब तक धरती का बोझ बने रहेंगे।'

हमारी बातें यहीं खत्म नहीं हुईं। थकान दूर करने के लिए हम पेड़ों के ही एक झुंड में हरी घास पर बैठ गए।

खाने के पैकेट और थर्मस की चाय हमारे सामने थी।

'इस तरह हम आखिर कब तक चलते रहेंगे?'

'जब तक हमें इस जंगल का सबसे बूढ़ा पेड़ नहीं मिल जाए, हम इसी तरह चलते रहेंगे।'

अमलों ने चौंक कर मेरी तरफ देखा। कहीं मैं अपना मानसिक संतुलन तो नहीं खो रहा हूं!

'लेकिन हम रात कहां बिताएंगे, हमारे पास खाने-पीने का ज्यादा सामान भी तो नहीं। फिर कौन जानता है, ये जंगल कितनी-कितनी दूरी तक फैला है रास्ते में खतरे भी हैं। हमें अब वापिस लौटना चाहिए।

तभी हमारे साथ-साथ चल रहे वनपाल अहमदीन ने कहा–

'आगे, पहाड़ी के नजदीक, एक छोटा-सा रेस्ट हाउस है। हम वहां रात गुजार सकते हैं। एक गार्ड भी वहां रहता है। शायद वो हमारे लिए खाने-पीने का कोई इंतेजाम कर दे।'

सूरज डूबने-डूबने को था कि हम रेस्ट हाउस के पास पहुंचे। भुखली गार्ड ने सिर से पगड़ी उतार कर हमारा स्वागत किया। पेड़ों के साथ रहते-रहते भुखली अनुभवी हो गया था। खबर नहीं पहुंचने पर भी, भटकते-भटकते, हमारे वहां आ जाने का अनुमान लगाकर भुखली गार्ड ने आस-पास से खाने-पीने का कुछ सामान इकट्ठा कर लिया था।

शहर में तो पंद्रह-बीस वर्षों में ही हल्की-फुल्की आंधी से भी पेड़ गिर जाते हैं, जड़ें उखड़ जाती हैं। लेकिन हमारे इस जंगल में पेड़ जल्दी मरते नहीं। दो सौ, तीन सौ साल बीतने पर भी नहीं।

उस रात हम भुखली गार्ड के मेहमान रहे। अगली दो रातें भी हमने जंगल के उसी रेस्ट हाउस में बिताईं। दिन-दिन भर हम जंगल के सबसे बूढ़े पेड़ की तलाश करते। थक कर चूर हो जाने पर किसी झरने के किनारे सुस्ताते, फिर आगे के सफर पर निकल पड़ते। जमीन की सतहें छूने वाला कोई पेड़ नजर आने पर हम थोड़ी देर वहां रुककर पेड़ की उम्र का अंदाजा लगाते, उसकी लटों को अपने थके-थके हाथों से सहलाते, उसके पत्तों से अपनी हथेलियां सटाकर अपने भीतर एक अजीब-सी ठंडक का संचार करते। कहीं-कहीं हम भी, औरों की तरह, पेड़ के तने पर अपने नाम का संकेत छोड़ देते।

महकमे के अमलों को मेरी मानसिक स्थिति के बारे में अपना शक यकीन में बदलता महसूस होता। लेकिन वो मेरे ओहदे के प्रति अपने सम्मान के कारण कोई प्रतिक्रिया नहीं जाहिर करते।

चौथे दिन की सुबह, जब मैंने वापिस शहर लौटने का फैसला किया तो अमलों की जान में जान आई। उनमें कई तो मान बैठे थे कि हम अब जंगल से

बाहर नहीं निकल पाएंगे।

शहर पहुंचते-पहुंचते शाम हो गई है। दफ्तर का चपरासी बाबूलाल हमारी तीन दिनों की गैर-हाजिरी से दहशत की हालत में है।

'साहब, मेरा तो रोते-रोते बुरा हाल हो गया। थाना-पुलिस फोन करते-करते थक गया। कोई सुनने को तैयार नहीं हुआ। बार-बार बड़े साहेब का फोन आता। पूछते, क्या रिपोर्ट है? कितने पेड़ कटे हैं, अब तक? सरकार, हम क्या जवाब देते? कहते रहे, हाकिम जंगल से नहीं लौटे। काम चल रहा होगा, यही वजह है अब तक नहीं लौटे। अभी भी थोड़ी देर पहले, फोन आया था। कहते थे, साहब के आते ही बात करने को बोलना।'

तीन दिनों तक मैं जंगल में उन बूढ़े पेड़ों की तलाश करता रहा, जिन्हें काटकर गिरा देने की आपने हिदायत दी थी। मुझे जंगल में एक भी ऐसा पेड़ नहीं मिला, जिसे मैं बूढ़ा कह सकूं। तमाम पेड़ों की उम्र मुझे अपनी उम्र से कम दिखाई दी। मैंने बार-बार महसूस किया जैसे खुद मैं ही इस जंगल का सबसे बूढ़ा पेड़ हूं।

'तुमने बिलकुल ठीक कहा, बाबूलाल। मैं जंगल में ही था, मेरा काम चल रहा था। लेकिन अब मेरा यहां का काम खत्म हो गया है। मेरा सामान बाहर गाड़ी में रख देना। मैं आज ही वापिस अपने गांव जा रहा हूं।'

दफ्तर छोड़ने से पहले, बस थोड़ी देर के लिए, मैं अपनी कुर्सी पर बैठा हूं।

मैंने सरकारी पैड पर अपने सबसे बड़े अफसर के नाम एक छोटा-सा पत्र लिखा है। पत्र का आखिरी हिस्सा कुछ इस प्रकार है:

'तीन दिनों तक मैं जंगल में उन बूढ़े पेड़ों की तलाश करता रहा, जिन्हें काटकर गिरा देने की आपने हिदायत दी थी। मुझे जंगल में एक भी ऐसा पेड़ नहीं मिला, जिसे मैं बूढ़ा कह सकूं। तमाम पेड़ों की उम्र मुझे अपनी उम्र से कम दिखाई दी। मैंने बार-बार महसूस किया जैसे खुद मैं ही इस जंगल का सबसे बूढ़ा पेड़ हूं। आखिर कब तक मैं नए पेड़ों के रास्ते की रुकावट बना रहूंगा। अपने हाथों इस बूढ़े पेड़ को काट कर गिरा दें, ऐसी मेरी आपसे इल्तिजा है।

बिहार आंदोलन से सार्वजनिक जीवन में आए श्री जाबिर हुसेन 'दोआब' नामक पत्रिका के संपादक हैं। वे बिहार के स्वास्थ्य मंत्री, विधान परिषद के अध्यक्ष और राज्यसभा के सदस्य भी रह चुके हैं।

*

पुराना चावल

प्रतिक्रिया या स्वतंत्र अहिंसा शक्ति

रामचंद्र राही

इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है जहां महान पराक्रमी लोगों ने किसी प्रतिक्रिया में आकर पराक्रम तो किया पर उसका कुल परिणाम नकारात्मक ही रहा। हमारे देश में भी परिवर्तन चाहने वाली शक्तियों ने, प्रतिपक्षी दलों और विभिन्न संगठनों ने कोई कम पराक्रम नहीं किए हैं। फिर भी कोई कहने लायक मौलिक उपलब्धि नहीं दिखती। स्वराज्य के बाद देश में तरह-तरह के बड़े-बड़े प्रदर्शन, आंदोलन हुए हैं लेकिन इसके बावजूद आम आदमी की, सामाजिक इकाईयों की शक्ति क्षीण होती गई है और राज्यशक्ति निरंतर प्रबल होती गई है। इन बुनियादी बातों को लेकर सन् 1985 में लिखा गया यह लेख आज भी प्रासंगिक है।

'प्रतिक्रियावादी' शब्द साम्यवादियों की बोलचाल में प्रायः राजनीतिक गाली के रूप में प्रयुक्त होता है। क्रांति विरोधी-तत्वों के लिए एक नफरत भरा विशेषण है यह। लेकिन इस शब्द पर थोड़ा चिंतन करें तो सत्याग्रही प्रक्रिया और वृत्ति को समझने में बहुत मदद मिलती है।

कहीं कोई क्रिया होती है। वह हमको उकसाती है। हम उसके परिणामस्वरूप कुछ करते हैं, क्रियाशील होते हैं, तो वह भी एक प्रतिक्रिया है।

अक्सर प्रतिक्रियाएं हमारे चित्त पर होती ही रहती हैं और उनके उकसावे में हम कुछ न कुछ करते भी रहते हैं। कभी उनका रूप अनुभूति और चिंतन के स्तर पर ही रह जाता है, कभी उनकी अभिव्यक्ति वाणी और क्रिया में प्रगट होती है। कम्प्यूटर युग में मन की मर्यादाओं को नापने वालों ने अब बताया है कि 'मन' की प्रतिक्रियाओं से प्रेरित-संचालित कृतियां पुनः प्रतिक्रियाओं का ही सृजन करती हैं। इस प्रकार जिस क्रिया-प्रतिक्रिया का चक्र चलता रहता है, उसका कुल

परिणाम नकारात्मक होता है। वह सकारात्मक विधायक या सृजनात्मक नहीं होता। इतिहास ऐसे उदाहरणों से भरा पड़ा है कि महान पराक्रमी लोगों के प्रतिक्रियात्मक पराक्रम का परिणाम अंततः नकार की चरम स्थिति में एक विध्वंसात्मक रूप में ही सामने आया है।

लेकिन अभी हम इतिहास के बहुत पुराने अध्यायों को यहां न उल्टें। स्वतंत्रता के बाद के इतिहास को ही सामने रखकर देखें।

गांधीजी ने सत्याग्रह का एक शस्त्र और शास्त्र दिया। उन्होंने प्रतिक्रिया से मुक्त एक महान परिवर्तनकारी-क्रांतिकारी शक्ति हमें दी। परिवर्तन और नवसृजन की दृष्टि से महान वैज्ञानिक आइंस्टीन ने अणुशक्ति के रूप में जितनी प्रचंड शक्ति का स्रोत खोजकर मनुष्य को दिया, गांधीजी ने उससे कम वैज्ञानिक या कम प्रचंड शक्ति का स्रोत 'सत्याग्रह' के रूप में खोज कर नहीं दिया है। लेकिन अभी हमें उसका पूरा एहसास या विश्वास नहीं हो पाया है क्योंकि 'अणुशक्ति' अब तक की ज्ञात परंपरागत शक्ति की दिशा का ही स्रोत है। लेकिन 'सत्याग्रह' शक्ति का प्रचलित परंपरागत स्रोत नहीं है।

गांधीजी ने सत्याग्रह का एक शस्त्र और शास्त्र दिया। उन्होंने प्रतिक्रिया से मुक्त एक महान परिवर्तनकारी-क्रांतिकारी शक्ति हमें दी। परिवर्तन और नवसृजन की दृष्टि से महान वैज्ञानिक आइंस्टीन ने अणुशक्ति के रूप में जितनी प्रचंड शक्ति का स्रोत खोजकर मनुष्य को दिया, गांधीजी ने उससे कम वैज्ञानिक या कम प्रचंड शक्ति का स्रोत 'सत्याग्रह' के रूप में खोज कर नहीं दिया है।

सत्याग्रही शक्ति इस रूप में सर्वथा नवीन है। उसके प्रयोग की प्रक्रिया में प्रतिपक्षी को नवरचना के लिए समाप्त किया जाना अनिवार्य नहीं होता। बल्कि उसके अंतर में विद्यमान नवरचना के चेतन-तत्व को उभारने की गहरी प्रेरणा होती है, अपील होती है। आक्रांता की प्रतिक्रिया में आक्रांत भी आक्रमक नहीं बन जाता, बल्कि आक्रांता के प्रति उत्कट प्रेम के साथ उसे सह लेता है। इस प्रकार उसके आक्रमण ज्वार को भाटा बनने देने में मददगार होता है। उसके भीतर की विध्वंसक या निषेधात्मक शक्ति के उभार को अपनी प्रतिक्रिया का ईंधन देकर वह उसे और बढ़ाता नहीं।

प्रचलित परंपरागत शक्ति को यदि हम हिंसा-शक्ति कह लें, तो गांधीजी ने अहिंसा का शस्त्र-शक्ति से सर्वथा भिन्न सत्याग्रह-शक्ति के रूप में विकसित किया है। यहां मैं समझ-बूझकर 'विकल्प' नहीं सर्वथा भिन्न शब्द का प्रयोग कर रहा हूं। 'विकल्प' की खोज का यह रूप भी बन सकता है कि हिंसा शक्ति जिस प्रकार दबाव पैदा करती है, उसी तरह का दबाव पैदा करने वाली एक अन्य

शक्ति, लेकिन जिसमें शस्त्र प्रयोग नहीं, मारकाट नहीं। भारतीय स्वतंत्रता संग्राम के सभी सत्याग्रही अहिंसा की इस भूमिका के रहे हों, ऐसा दावा नहीं किया जा सकता। सत्याग्रह के प्रति अधिकांश की आस्था के आगे प्रश्न चिह्न ही लग सकते हैं। लेकिन स्वयं गांधीजी की उपस्थिति और प्रेरणा के कारण सत्याग्रह का अहिंसा तत्व इस संग्राम में हावी रहा। यही कारण है कि आजादी के वर्षों बाद (बंटवारे की शोकांतिका को छोड़कर) तक देश में शांति-व्यवस्था बनी रही, अंदरूनी हिंसा का वह तांडव नहीं हुआ, जो हिंसक लड़ाई से आजादी हासिल करने वाले देशों में होता रहा है– अधिनायकवादी जकड़ और उसकी उल्ट-पल्टी का रक्तरंजित तांडव।

लेकिन इस इतिहास के विस्तार में न जाकर हम आजादी के बाद के उस पहलू को देखें, जिसमें देश के पुनर्निर्माण की कोशिशें हुई हैं।

प्रतिपक्ष तथा अन्य संगठनों की क्रियाएं सत्तारूढ़ दल की प्रतिक्रियाएं रही हैं और क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं का प्रचंड चक्र चलने के बावजूद कोई मौलिक रचना उपलबध नहीं हुई है। हर ऐसे 'प्रचंड चक्र' के बाद जो रिक्तता पैदा हुई है, उसे भरने के लिए पुनः वही तत्व, वही मूल्य आकर प्रतिष्ठित हो गए हैं।

गांधीजी के नेतृत्व में सत्याग्रही शक्ति से आजादी की लड़ाई लड़ने वाली कांग्रेस तो 15 अगस्त 1947 के पहले ही समाप्त हो गई थी। उसके बाद, कांग्रेस के नाम से, पं. जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में जो दल सत्तारूढ़ हुआ उसकी आस्था सत्याग्रही समाज और व्यवस्था के विकास में नहीं थी। अपनी आस्था के अनुसार हिंसा की संगठित राज्य-शक्ति और मामूली हेर-फेर के साथ साम्राज्यवादी प्रशासनिक व्यवस्था के माध्यम से एक लोककल्याणकारी राज्य बनाने की उन्होंने कोशिश की। अब लोककल्याणकारी से अधिक एक अति केन्द्रित राज्य, पूंजी और यंत्रवादी व्यवस्था इतने दिनों में उभरती दिखाई दे रही, जो सत्याग्रही और अहिंसक समाज-रचना की कल्पना से कोसों दूर है। इसमें समाज और राज्य स्तर पर हिंसा-प्रतिहिंसा का दौर बढ़ता ही जाने वाला है। यह व्यवस्था चल रही है, और शायद अभी और चलेगी, क्योंकि आजादी के बाद वाली कांग्रेस ने एक बड़ा जबरदस्त आधार अपनी सत्ता का जन-मानस में बना लिया है। वह आधार है कल्याण-याचक जन-वृत्ति का। सत्ता ही कल्याण दायिनी है, इस मानस का, वृत्ति का विकास सुदूर गांवों की गली-गली तक हो गया है। इस मानसिकता का एक पहलू यह भी है कि सत्ता को तो सर्वशक्ति सम्पन्न होना ही चाहिए। 'कांग्रेसवाद' से 'नेहरूवंशवाद' तक

का अखंड विकास-प्रवाह और इसकी व्यापक जन-स्वीकृति एक अकाट्य उदाहरण है इसका।

निश्चय ही बीच में 'जनता राज' का एक अवरोध-काल (1977-79) भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। वह काल भी एक सबूत है इस बात का कि जनता को सत्याग्रही स्पर्श मिलेगा, नेतृत्व मिलेगा तो प्रहलाद, बुद्ध और गांधीजी द्वारा दिए गए संस्कार बुनियाद में जीवित पड़े हैं और अपनी पूरी संभावना और क्षमता के साथ उभर आएंगे। साथ ही यह भी कि यदि 'कांग्रेसवाद', 'नेहरूवाद' के ही चरणचिह्नों पर चलने की कोशिश होगी, फिर वह चाहे किसी भी दल-नेतृत्व द्वारा हो, लोग पुनः उसी नेहरू खानदान की शरण में चले जाएंगे।

निश्चय ही बीच में 'जनता राज' का एक अवरोध-काल (1977-79) भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। वह काल भी एक सबूत है इस बात का कि जनता को सत्याग्रही स्पर्श मिलेगा, नेतृत्व मिलेगा तो प्रहलाद, बुद्ध और गांधीजी द्वारा दिए गए संस्कार बुनियाद में जीवित पड़े हैं और अपनी पूरी संभावना और क्षमता के साथ उभर आएंगे।

इस स्थिति में परिवर्तन चाहने वाली शक्तियों-प्रतिपक्षी दलों और अन्य संगठनों ने पिछले 38 वर्षों में कोई कम पराक्रम नहीं किए हैं। लोहियाजी का गैरकांग्रेसवाद और उसके परिणामस्वरूप कई राज्यों से कांग्रेसी सत्ता का उखड़ जाना, उसका एक सशक्त प्रमाण है, लेकिन फिर वापस वही कांग्रेसी सत्ता! बहुत से राजनीतिक विश्लेषण हुए हैं इस संदर्भ में। लेकिन इसका बुनियादी कारण यह दिखाई देता है कि प्रतिपक्ष तथा अन्य संगठनों की क्रियाएं सत्तारूढ़ दल की प्रतिक्रियाएं रही हैं और क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं का प्रचंड चक्र चलने के बावजूद कोई मौलिक रचना उपलब्ध नहीं हुई है। हर ऐसे 'प्रचंड चक्र' के बाद जो रिक्तता पैदा हुई है, उसे भरने के लिए पुनः वही तत्व, वही मूल्य आकर प्रतिष्ठित हो गए हैं। प्रतिक्रियात्मक पराक्रम में चूंकि 'सूत्र' उसके हाथ में नहीं होते, जो 'क्रिया' करते हैं इसीलिए यदि क्रिया करने वाले ने अपनी 'कृति' समेट ली या वापस कर ली तो प्रतिक्रिया का पराक्रम भी निस्तेज और अंततः समाप्त हो जाता है।

नेहरूजी अपने व्यक्तित्व के कारण प्रतिक्रियाओं को बहुत कुछ हल्का और निष्क्रिय कर देते थे। श्रीमती इंदिरा गांधी का व्यक्तित्व कुछ इस तरह का था, उनके स्वभाव में ऐसे तत्व थे जो प्रतिपक्ष को ललकारते रहते थे और प्रतिक्रियाओं के लिए पर्याप्त अवसर देते थे। लेकिन उन्हें बिखेर देने की कला में भी वे सिद्धहस्त थीं। अब राजीवजी की ऐसी सौम्य, उदार, सहनशील, प्रगतिवादी छवि

गढ़ी जा रही है कि प्रतिपक्ष हतप्रभ है। उनके खिलाफ खड़े होने का आधार ही नहीं जुटा पा रहा है। राजीवजी देश को नए कम्प्यूटरयुग में, इक्कीसवीं सदी के स्वर्णिम युग में ले जा रहे हैं। अब प्रतिपक्ष जनता से कैसे कहे कि नहीं तुम्हें नहीं जाना है उस स्वर्णिमयुग में। जनता तो टूट पड़ रही है टी.वी., कम्प्यूटर पर। वाहवाही हो रही है राजीवजी की भारत शोध-यात्राओं को लेकर। जनता का हमदर्द प्रधानमंत्री खुद अपने पैरों चलकर बियाबान जंगलों में बसे 'जंगली' लोगों में जा रहा है, प्रत्यक्ष अपनी आंखों देख रहा है, कानों सुन रहा है उनकी दुख तकलीफ को! प्रतिपक्ष के प्रखर प्रवक्ताओं को भी सोच-सोच कर बोलना पड़ रहा है, बल्कि इस बात को लेकर भी आपस में लड़ रहे हैं कि तारीफ क्यों की, राजीवजी की, विपक्ष के नेता होकर भी? प्रतिक्रियात्मक पराक्रम के आधार कितने कमजोर होते हैं।

लेकिन चिंतन का मुद्दा हमने लिया है सत्याग्रह-प्रक्रिया और वृत्ति का। वापस उसी पर लौटें। देश में समाजवाादियों ने इस शब्द को व्यापक बनाया और उसकी विविध प्रक्रियाएं भी विकसित कीं। जुझारूपन का तेवर लिया सत्याग्रही, इसका क्रांतिकारी स्वरूप है। ...नहीं तो हमें सत्याग्रह के लिए मजबूर होना पड़ेगा की धमकी, ओजपूर्ण भाषा और तीव्रता छलकती प्रखर भावभंगिमा! सत्याग्रह के अनेक आयोजनों में इसके दर्शन हमें हुए हैं। जन-आक्रोश भड़का कर उन्हें पिटने के लिए पुलिस बल के आगे कर देना, खुद भाग जाना यानी 'अंडरग्राउंड' हो जाना या फिर गिरफ्तारी देकर पुलिस गाड़ी में सुरक्षित हो जाना, फिर बाद में पुलिस जुल्म के खिलाफ बयान देना आदि दृश्यों-प्रसंगों की चर्चा करने की यहां जरूरत नहीं। मारेंगे नहीं, मानेंगे नहीं, आदमी को हानि नहीं पहुंचाएंगे, व्यवस्था के प्रतीक किसी वाहन, भवन, कार्यालय को घेरेंगे, जरूरत हुई तो उसे ठप्प करने के लिए हल्की कुछ क्षति भी करेंगे आदि बातों की बहस में भी उतरना यहां प्रासंगिक नहीं।

इन संदर्भों को सामने रखते हुए, मैं प्रश्न यह उठाना चाहता हूं कि इसमें सत्याग्रह का वह मूल तत्व कहीं बचा रह पाता है क्या, जिसमें प्रतिपक्षी की, आक्रांता की अंतर-चेतना को अपील करना है, उसे झकझोर कर जगाना है, उसके आक्रमण को सहकर प्रतिक्रिया में आक्रामक हुए बिना? उसके आक्रामक आक्रोश को झर जाने देना है, ठंडा कर देना है अपनी आत्म शक्ति से, इस आस्था-शक्ति से कि उसकी अंतरात्मा के साथ हमारा संवेगात्मक अटूट संबंध है, वह अंततः जगेगी ही! क्या इस वृत्ति के कमजोर पड़ने पर सत्याग्रही प्रक्रिया सत्याग्रही रह पाती है या बस प्रतिक्रियात्मक आक्रोश बन जाती है, भले ही वह कितनी भी सात्विक हो, शुद्ध हो?

लेकिन इससे भी आगे का एक प्रश्न यह है कि सत्याग्रही प्रक्रिया में कोई स्वतंत्र प्रेरकसूत्र और स्रोत है क्या शक्ति का? गांधीजी ने कहा था कि गुलामी कायम ही होती और बनी रहती है गुलाम की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष स्वीकृति से। अतः गुलाम की आत्मशक्ति जगे और जिस क्षण वह संकल्पपूर्वक घोषित कर दे कि हम गुलाम नहीं, गुलामी का कोई भी बंधन हम स्वीकार करते नहीं, उसी क्षण वह 'आजाद' हो जाता है। लेकिन गुलामी की यह अस्वीकृति गुलाम बनाने वाले के सामने 'आजादी' की मांग का मात्र प्रदर्शन जुटाने से नहीं पैदा होती है। इस तैयारी से कि गुलामी को लादे रखने वाली प्रचंड शक्ति हमारे शरीर को तो क्षति पहुंचा सकती है, उसे नष्ट भी कर सकती है, लेकिन गुलामी की हमारी यह अंतर अस्वीकृति हर हालत में कायम रहेगी, उसे दुनिया की कोई भी शक्ति नष्ट नहीं कर सकती, डिगा नहीं सकती।

गुलामी कायम ही होती और बनी रहती है गुलाम की प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष स्वीकृति से। अतः गुलाम की आत्मशक्ति जगे और जिस क्षण वह संकल्पपूर्वक घोषित कर दे कि हम गुलाम नहीं, गुलामी का कोई भी बंधन हम स्वीकार करते नहीं, उसी क्षण वह 'आजाद' हो जाता है। लेकिन गुलामी की यह अस्वीकृति गुलाम बनाने वाले के सामने 'आजादी' की मांग का मात्र प्रदर्शन जुटाने से नहीं पैदा होती है।

ऐसा नहीं कि इस प्रक्रिया में प्रदर्शन का स्थान नहीं। वह अवश्य है। हम गुलाम नहीं हैं, इसकी घोषणा अपने मौलिक अधिकारों पर अमल करते हुए व्यक्तिगत, सामूहिक किसी भी रूप में की जा सकती है। लेकिन वह प्रतिक्रिया नहीं क्रिया होनी चाहिए। जैसी क्रिया 'नमक सत्याग्रह' में की गई थी। अंग्रेजी साम्राज्य के कार्यालयों के सामने जाकर चाहे कितना बड़ा भी प्रदर्शन किया जाता कि हमें 'नमक बनाने का अधिकार दो', वह क्रिया एक तो उस साम्राज्य के अधिकारों के प्रति प्रदर्शनकारियों की अप्रत्यक्ष स्वीकृति ही होती, दूसरे उससे प्रदर्शनकारियों में वह अजेय आत्मशक्ति विकसित नहीं हो पाती, जो नमक बनाने के सत्याग्रह से विकसित हुई थी।

स्वराज्य के बाद देश में तरह-तरह के बड़े विराट प्रदर्शन हुए हैं, प्रतिकार आंदोलन चले हैं, लेकिन इसके बावजूद आम आदमी की, सामाजिक इकाइयों की शक्ति क्षीण होती गई है और राज्य-शक्ति निरंतर प्रबल होती गई है। आखिर क्यों?

कारण स्पष्ट है कि सत्तारूढ़ और सत्ताकांक्षी दलों यानी पक्ष-विपक्ष की मूल भूमिका एक ही रही है– 'राज्य' का माध्यम, और अंतिम आस्था राज्य-शक्ति

यानी दंड शक्ति में। उनके लिए 'लोकशक्ति' यानि उनके दल और उसकी परिकल्पनाओं, विचारों के प्रति प्रतिबद्ध 'लोक', जिनकी जागृत संगठित शक्ति के बल पर वे राज्य अपने कब्जे में ले सकें। इस प्रकार राज्य शक्ति को ही मजबूत किया है दोनों ने अपने इन कृत्यों से।

सत्ताकांक्षी संगठनों के लिए एक हद तक हम इसे स्वाभाविक भी मान सकते हैं। लेकिन यह प्रश्न उनके लिए गंभीर रूप से विचारणीय है जो हिंसा शक्ति की विरोधी और दंड शक्ति से भिन्न 'लोक शक्ति' की कल्पना करते हैं, जिनकी आस्था बुनियाद में लोक या मतदाता के कंधे पर लदी ऊपर की ओर क्रमशः शक्तिशाली होती जाने वाली 'राज्य-शक्ति' में नहीं, प्रत्यक्ष आर्थिक, सामाजिक संबंधों में जुड़े 'स्वायत्त' लोक या मतदाताओं की गांवों और नगरों-मुहल्लों में संगठित स्वशासी इकाइयों के महासंघ वाली स्वराज्य रचना में है।

मौजूदा परिस्थितियां हमारे भीतर चाहे जितनी उत्कटता पैदा करें, इस चरण को पूरा किए बिना वह सत्याग्रही ऊर्जा हम नहीं पैदा कर सकेंगे, जिसका परिणाम राज्य शक्ति को क्षीण और अहिंसक लोकशक्ति को प्रगट और सुदृढ़ करने वाला होगा।

क्या ये भी राज्य की कृतियों की प्रतिक्रिया में ही उलझे रहेंगे? और, क्या उनकी क्रियाओं– प्रदर्शन-प्रतिकार आदि का भी वही रूप होगा जुझारू तेवर वाला, जिसे राज्याकांक्षी दलों ने विकसित किया है, जिसे वे 'सत्याग्रह' कहते हैं? या कोई भिन्न रूप होगा उनकी क्रिया का? राज्याकांक्षी समूह की कृतियों से राज्यशक्ति को मान्यता मिले और वह निरंतर सुदृढ़ हो, इससे तो उनका लक्ष्य ही सिद्ध होता है। लेकिन राज्य शक्ति को निरंतर क्षीण करने का लक्ष्य रखने वालों द्वारा वैसी ही परिणामकारी कृति लक्ष्य-च्युत करने वाली ही सिद्ध होगी।

जिस व्यवस्था से मुक्त होना है, उसकी अस्वीकृति और नई व्यवस्था खड़ी करनी है, उस दिशा की कृति– यह रीत है प्रतिक्रियामुक्त अहिंसक सत्याग्रही शक्ति निर्माण की। इस रणनीति का अनिवार्य चरण है जिस बिंदु पर कृति करनी है, उस बिंदु पर जन-चेतना जगाना, उसे संगठित करना ताकि जन स्वयं क्रियाशील हो। वह हमारा औजार या माध्यम मात्र बनकर न रह जाए। मौजूदा कल्याण-याचक-जनमानस को बदलने तक निरंतर विविध प्रकार से प्रयत्नशील रहते हुए भी हमें धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी पड़ सकती है, उस क्षण की, जब विधायक रचना की ठोस बुनियाद पर अस्वीकृति का व्यापक जन-विस्फोट हो।

मौजूदा परिस्थिति की चुनौतियां हमारे भीतर चाहे जितनी उत्कटता पैदा करें, इस चरण को पूरा किए बिना वह सत्याग्रही ऊर्जा हम नहीं पैदा कर सकेंगे, जिसका परिणाम राज्य शक्ति को क्षीण और अहिंसक लोकशक्ति को प्रगट और सुदृढ़ करने वाला होगा। 'नमक सत्याग्रह' के लिए दांडीकूच आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। शायद इसी दृष्टि से गांधीजी ने रचनात्मक कार्यों की पूर्णता में स्वराज्य की सिद्धि का दर्शन किया था।

लेकिन यहां यह भ्रम भी नहीं होना चाहिए कि कल्याण याचक जन-वृत्ति को पोषण देने वाली राज्याश्रित प्रवृत्तियों का संचालन वह रचनात्मक कार्य है, जिसकी कल्पना गांधीजी ने की थी। दंड और हिंसा की बुनियाद पर खड़े राज्य का आश्रय लेकर चलने वाली इन प्रवृत्तियों में से सत्याग्रह का 'अस्वीकृति' वाला पहला तत्व समाप्त हो जाता है। फिर जो बचा रहता है, उसमें नवसृजन की क्षमता नहीं, और उससे अहिंसक शक्ति के विकास की कल्पना करना तो मात्र एक मृगमरीचिका ही है।

तो प्रतिक्रियावादी पुरुषार्थ, प्रदर्शन,प्रतिकार से सत्याग्रही शक्ति विकसित नहीं हो सकती और राज्याश्रित प्रवृत्तियों से सत्याग्रही समाज नहीं बन सकता– इन दो अनुभव सिद्ध तथ्यों के प्रकाश में नई रणनीति की खोज की चुनौती के समक्ष आज हमारा सर्वोदय समाज खड़ा है। हमारे लिए दंड शक्ति से भिन्न, हिंसा-शक्ति की विरोधी अहिंसक लोक शक्ति विकसित करने के प्रयोग में मिट जाना सार्थक हो सकता है। राज्य के खिलाफ प्रचंड प्रदर्शन-प्रतिकार और राज्याश्रित प्रवृत्तियों का व्यापक संचालन बिलकुल निरर्थक सिद्ध हो सकता है।

हमारे सामने एक नया क्षितिज खुला छोड़ गए हैं गांधीजी, अस्वीकृति और स्वायत्त-स्वाश्रयी रचना की संयुक्त सत्याग्रही शक्ति खड़ी करने का। आज की परिस्थिति में ऐसी शक्ति खड़ी करने की कोशिश नगण्य सी लग सकती है। लेकिन कल को वह प्रचंड बन सकती है, यदि हमारे प्रयत्न के हर बिंदु में वही 'शक्ति तत्व' हो, जिसका विराट रूप दर्शन हमें अभीष्ट है।

भूदान, ग्रामदान आंदोलन और सर्वोदय के विभिन्न
संगठनों से जुड़े रहे राहीजी केन्द्रीय गांधी स्मारक निधि के मंत्री हैं।

*

पोथी पढ़ि पढ़ि

साधारण-सा जीवनः असाधारण किताबें

सोपान जोशी

सिर पर स्लेट पत्थर की छत और पांव के नीचे अपने ही मल-मूत्र से बनी जमीन! जोसेफ जेंकिन्स का बस यही तो है संक्षिप्त परिचय। श्री जोसेफ ने पन्द्रह साल पहले एक पुस्तक लिखी थी 'द स्लेट रूफ बाइबल'। 17 साल पहले लिखी थी 'द ह्यूमन्योर हैंडबुक'। दोनों किताबों ने हजारों लोगों को प्रभावित किया है, प्रेरणा दी है। वे दूसरों को बताते नहीं हैं कि उनकी नीति क्या होनी चाहिए, उन्हें अपना जीवन कैसे जीना चाहिए। वे खुद ही वैसा जीवन जीते हैं और अपने जीवन की कथा सहज और सरल आवाज में बताते जाते हैं।

जोसेफ जेंकिन्स की अहिंसक यात्रा एक युद्ध से ही शुरू हुई थी। उनके पिता अमेरिकी सेना में काम करते थे। दूसरे विश्व युद्ध के बाद वे जर्मनी में तैनात थे। वहीं श्री जोसेफ का जन्म सन् 1952 में हुआ था। सेना की नौकरी। हर कभी पिताजी का तबादला हो जाता। बालक जोसेफ हर साल-दो-साल में खुद को एक नए शहर में पाता, नए लोगों के बीच, नए संस्कारों में।

होश संभालने के साथ जोसेफ को अमेरिका के विएतनाम पर हमले और कई साल से चल रहे युद्ध का भास होने लगा था। अमेरिकी सरकार स्कूल की पढ़ाई पढ़कर निकले हजारों किशोरों को लोकतंत्र की लड़ाई लड़ने अनिवार्य या कहें जबरन सैनिक सेवा में विएतनाम भेज रही थी। जोसेफ कहते हैं वह युद्ध अमेरिकी सामूहिक पागलपन था। उस युद्ध की वजह से कई लाख लोग अपनी जान गंवा बैठे थे। कई लाख एकड़ जमीन 'एजेंट ऑरेंज' नाम के जहर से बरबाद की गई और उस जहर की वजह से आज भी विएतनाम में कई बच्चे पैदाइशी अपंग और मंदबुद्धि हैं। वह युद्ध बहुत बड़ा झूठ और अन्याय था और अमेरिकी समाज ने आज तक उसके लिए जिम्मेदार लोगों को सजा नहीं दी है।

18 साल की उमर होने पर जोसेफ की भी नौबत आनी थी सेना में भर्ती होने की। वे पेंसिलवेनियां राज्य में डॉक्टरी की शुरुआती पढ़ाई कर रहे थे और साल था सन् 1972। एक दिन कॉलेज की कैंटीन में उन्हें एक अनजान आदमी

मिला। उसने उन्हें एक सरकारी नियम के बारे में बताया जिससे कॉलेज में पढ़ रहे छात्रों को अनिवार्य सैनिक सेवा से मोहलत मिल जाती थी। उस अनजान आदमी ने जोसेफ से बस एक फार्म भरवाया और युद्ध के लिए उसे जबरन भर्ती से बचा लिया। लेकिन अगले ही साल सरकार ने इस नियम को खारिज कर दिया। इस तरह जोसेफ बाल-बाल बचे थे विएतनाम युद्ध से। वे आज भी उस अनजान फरिश्ते का आभार मानते हैं।

युद्ध की हिंसा से तो जोसेफ बच गए पर अपनी अंतरआत्मा से नहीं। उन्हें ये मंजूर नहीं था कि उनकी कमाई से वसूले कर का इस्तेमाल अमेरिकी सरकार युद्ध के लिए करे। उन्होंने गरीबी में रहने का प्रण लिया ताकि उन्हें सरकार को कर चुकाना ही न पड़े। वे कहते हैं कि इस घटना के 40 साल बाद आज भी अमेरिकी सरकार अपने नागरिकों से वसूल किए गए कर से निर्दोष लोगों को मारने वाले युद्ध अफगानिस्तान और ईराक में लड़ रही है।

युद्ध की हिंसा से तो जोसेफ बच गए पर अपनी अंतरआत्मा से नहीं। उन्हें ये मंजूर नहीं था कि उनकी कमाई से वसूले कर का इस्तेमाल अमेरिकी सरकार युद्ध के लिए करे। उन्होंने गरीबी में रहने का प्रण लिया ताकि उन्हें सरकार को कर चुकाना ही न पड़े।

अपने ही देश अमेरिका से उखड़े, चिढ़े हुए वे यात्रा पर पड़ौसी देश मेक्सिको की ओर निकल पड़े, यह समझने कि वहां जीवन काट सकेंगे या नहीं। छह महीने बाद ही वे वापस अपने घर पेंसिलवेनियां के एक छोटे से कस्बे में लौट आए। पेशे की डॉक्टरी करने के लिए स्नातकोत्तर पढ़ाई नहीं करने का निर्णय तो वे पहले ही ले चुके थे। एक परिचित ने उनके सामने प्रस्ताव रखा कि वे गांव में 212 एकड़ की उनकी जमीन संभाल लें। वीरान पड़ी जमीन पर रहने के लिए एक टूटा-फूटा घर तो था पर उसकी मरम्मत जरूरी थी। उस साल जोसेफ ने गर्मी में एक बड़ा बगीचा लगाया। इस जमीन से एक साल में ही उनका दाना-पानी उठ आया था।

इसी दौरान श्री जोसेफ के पास छतों की मरम्मत करने के प्रस्ताव आने लगे। यह काम उन्होंने 16 साल की उमर में ही सीख लिया था, स्कूल की एक छुट्टी के दौरान। साल था 1968 और उनके पड़ौस के एक घर में सीमेंट का बना पक्का आंगन तोड़ कर मलवा हटाने की जरूरत थी। युवक जोसेफ अपना जेब खर्च कमाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने हथौड़ा संभाला और देखते-देखते काम पूरा कर दिया। घर की मालकिन उनकी मेहनत से बहुत प्रभावित हुईं। उनके पिता थे पीट ओडरे, जिनका जमा-जमाया और प्रसिद्ध कारोबार था छत बनाने का। बेटी ने अपने पिता को बताया इस मेहनती युवक के बारे में।

उन्होंने जोसेफ को अपने साथ रख लिया और उन्हें काम सिखाने लगे। इस दौरान जोसेफ ने अमेरिकी घरों में लगने वाली तरह-तरह की छतें बहुत करीब से देखीं और उन पर काम भी किया। उन्होंने पाया कि छत बनाने में इस्तेमाल होने वाला ज्यादातर माल पर्यावरण को दूषित तो करता ही था, ज्यादा समय चलता भी नहीं था। जैसे डामर या एसबेस्टस। इनसे कई तरह के रोग होने का खतरा भी रहता है। इन चीजों से काम करना जोसेफ को कतई नहीं भाया।

फिर वे याद करते हैं वह दिन जब उन्होंने पहली बार स्लेट पत्थर से ढली एक छत देखी। जी हां, वही स्लेट का पत्थर, जिससे एक समय लिखने की पट्टी बनती थी। यूरोप और अमेरिका में बहुत पहले से कई जगह स्लेट पत्थर और कवेलू से छतें बनती रही हैं। हमारे देश के भी अनेक पहाड़ी हिस्सों में स्लेट पत्थर की खदानें हैं और उनसे निकली स्लेटों का यहां भी वैसा ही सुंदर उपयोग होता रहा है। स्लेट के टुकड़े सालों साल जमे रहते हैं और उनकी छत बहुत लंबी चलती हैं। एक छत से निकाल कर स्लेट पत्थरों को दूसरी छत पर लगाना भी सरल होता है। पीढ़ियां चली जाती हैं, स्लेट पत्थर वही रहता है, वहीं रहता है! शायद इसलिए विज्ञापन और नएपन की लकदक में चलने वाली हमारी खरीद-फेंक की नई दुनिया को ऐसा टिकाऊ पदार्थ पसंद नहीं आता।

स्लेट के कई गुण तो जोसेफ को बहुत बाद में समझ आए, पहले तो उन्हें यही दिखा कि इस पत्थर से बनी छतें दूसरी चीजों से बनी छत से कहीं ज्यादा सुंदर दिखती हैं। वे कहते हैं स्लेट के सौंदर्य का उन पर ऐसा जादू हुआ कि उसी दिन तय किया कि जब कभी अपना घर बनाएंगे उसमें छत स्लेट की ही ढालेंगे।

ये मौका उन्हें 11 साल बाद सन् 1969 में मिला, कुछ पुराने घरों से निकाली इुई स्लेटों से। इस बीच बहुत कुछ और भी हुआ। उन्हें छत का काम सिखाने वाले पीट ओडरे चाहते थे इस मेहनती युवक को तैयार कर उसे अपना कारोबार सौंपना। पर दो साल छुट्टियों में उनका साथ देकर सन् 1970 में जोसेफ डॉक्टरी की पढ़ाई पढ़ने विश्वविद्यालय चले गए। वहां कॉलेज की फीस जुटाने के लिए उन्होंने घरों की मरम्मत करने का एक छोटा-सा कारोबार चलाया। फिर वे विएतनाम जाते-जाते बचे और कॉलेज की पढ़ाई पूरी करने के बाद गरीबी में रहने का प्रण ले बैठे।

वापस सन् 1975 में घर आए तो उनके शहर के लोग उस मेहनती युवक को भूले नहीं थे जो कारीगर पीट ओडरे का शागिर्द था। उनके पास स्लेट की छतें ठीक करने का काम आने लगा। जल्दी ही उनके पैर जम गए और उनका कारोबार चल निकला। सन् 1979 में उन्होंने सात एकड़ जमीन खरीदी और उस पर अपना घर बनाया, स्लेट की छत वाला। लेकिन पूर्वोत्तर अमेरिका की बर्फीली ठंड में ये कारोबार रुक जाता है। तो उस दौरान श्री जोसेफ ने लिखना शुरू कर दिया। लिखा भी किस पर? स्लेट की छत पर।

पांच साल के शोध के बाद सन् 1997 में उन्होंने अपनी किताब 'द स्लेट रूफ बाइबल' खुद ही छापी। लिखने की दुनिया में वे नए थे इसलिए उसमें कमियां भी रह गईं थीं। अपने लिखे की मरम्मत करके उस किताब का दूसरा संस्करण सन् 2002 में छापा। तब से अब तक इसकी 20,000 प्रतियां बिक चुकीं हैं और इसका इंटरनेट संस्करण तो और भी चला है। इस किताब के छपने के बाद श्री जोसेफ के काम की खूब शोहरत फैली और उनके पास पुरानी तरह की स्लेट छत बनवाने और सुधरवाने का ढेर सारा काम आने लगा। उन्होंने सन् 2005 में छतों का काम करने वाले कारीगरों का एक सामाजिक संगठन भी बनाया। आज यह खूब फल-फूल रहा है। संगठन एक पत्रिका भी निकालता है पारंपरिक छत बनाने पर। यह परंपरा खत्म होती जा रही थी। जोसेफ के काम से इसे संबल मिला है, स्लेट का उपयोग बढ़ा है। गरीबी में रहने का प्रण और डॉक्टरी की पढ़ाई छोड़ने वाले इस सिरफिरे को आज, 60 साल की उमर में एक सफल व्यक्ति माना जाता है।

इस किताब के छपने के बाद श्री जोसेफ के काम की खूब शोहरत फैली और उनके पास पुरानी तरह की स्लेट छत बनवाने और सुधरवाने का ढेर सारा काम आने लगा। उन्होंने सन् 2005 में छतों का काम करने वाले कारीगरों का एक सामाजिक संगठन भी बनाया। आज यह खूब फल-फूल रहा है।

अपनी जीवन यात्रा की बात करते हुए जोसेफ डॉक्टरी की पढ़ाई की निर्थकता की बात करते हैं। कहते हैं– "प्री-मेडिकल पढ़ाई में हमें खान-पान और स्वास्थ्य के संबंध पर कुछ भी नहीं पढ़ाया गया। मैं इतना अनाड़ी था कि मुझे तो पता भी नहीं था कि इन दोनों का कोई संबंध है।" कॉलेज से पास होने के बाद उन्होंने खुद से इस विषय पर पढ़ाई की और इससे आकर्षित होते चले गए। अपना भोजन उन्होंने खुद उगाना और पकाना शुरु किया। यह काम आज भी रोज होता है। हर रोज उन्हें कुछ नई और उपयोगी बातें समझ आती हैं। वे कहते हैं कि कॉलेज की पढ़ाई में उन्हें यह सब कभी समझ नहीं आया। तरह-तरह की जड़ी बूटियों के प्रयोग से उनके उपयोग भी समझ में आने लगे।

एक और यात्रा रही है जोसेफ की। उसकी शुरूआत हुई थी सन् 1975 में, जब वे डॉक्टरी शिक्षा छोड़ 212 एकड़ के खेत पर एक साल रहे। टूटे-फूटे घर को तो उन्होंने रहने लायक बना लिया था पर यह पहली दफा था कि वे ऐसे घर में रह रहे थे जिसके शौचालय में पाइप से आता पानी नहीं था। वे शौच जाते बाहर बने झोपड़ीनुमा शौचालय में, जिसमें एक गड्ढा भर था। चाहे कोई भी समय हो, मौसम कितना भी खराब हो, बारिश हो, बर्फबारी हो। गड्ढे में उनका रोज मुकाबला होता कई तरह के कीड़ों से। ततैया, मकड़ी, मक्खी और ढेर-सी

दुर्गंध से। इसका समाधान उन्होंने निकाला एक ढक्कनयुक्त चीनी मिट्टी के एक कमोड से। इसे खराब मौसम में घर के भीतर रखा जा सकता था। जब कमोड भर जाता तब उसे बाहर ले जाकर खाली कर देते।

लेकिन घर के भीतर बदबू आती थी। उसका उपाय भी पास ही मिला। खेत पर लकड़ी चीरने से निकला ढेर सारा बुरादा पड़ा था। जोसेफ ने पाया कि लकड़ी के बुरादे को ऊपर डालने से टट्टी और पेशाब की गंध चली जाती थी। इस तरह से ग्रामवास का उनका पहला साल बीत गया।

उनके अगले घर में भी पानी और बिजली की कोई व्यवस्था नहीं थी। कोई नल नहीं, पाइप नहीं। वहां उन्होंने एक प्लास्टिक के डिब्बे को शौचालय बना दिया और वही लकड़ी के बुरादे का इस्तेमाल करने लगे। लेकिन समय-समय पर डब्बा खाली करने के लिए उस घर के बाहर कोई गड्ढे वाला शौचालय भी नहीं था। गर्मी के मौसम में जोसेफ ने पास की जमीन पर बगीचा लगाया था और तीन और बगीचे लगाने का सोच रहे थे। इसके लिए पत्ते वगैरह सड़ा कर खाद बनाने के लिए उन्होंने एक ढेर लगा रखा था। कोई और समाधान था नहीं तो डब्बे की टट्टी और पेशाब को भी वे इसी ढेर में डालने लगे। वे कहते हैं उन्हें कुछ ठीक से पता नहीं था। केवल सामने जो मुश्किल आई, उसका व्यावहारिक हल खोज रहे थे।

यह बात सन् 1977 की है। तब से आज तक श्री जोसेफ हर साल बगीचा भी लगाते हैं और उसमें जो खाद डालते हैं, वह उनके मल से तैयार होती है। उनके बगीचे में कई तरह की फसलें लगती हैं, कई तरह का खानपान उनसे बनता है। खाद शब्द का खाद्य से संबंध उन्हें इन 35 सालों के प्रयोगों से बखूबी समझ में आ गया है। वे आज विशेषज्ञ माने जाते हैं खाद के। उस खाद के जिसने कई सदियों से हमारे खेत उपजाऊ रखे हैं, लेकिन जिसे हमारे दूषित शब्दकोश में 'जैविक खाद' जैसी अटपटी संज्ञा दी जाती है।

इस जानकारी को जोसेफ ने और बढ़ाना चाहा विश्वविद्यालय में जाकर। उन्हें विज्ञान की बुनियादी समझ तो थी ही। दुनिया भर के वैज्ञानिक शोध को वे कॉलेज की लाइब्रेरी के जरिए पढ़ सकते थे। इस जानकारी का उपयोग उन्होंने अपने प्रयोगों में किया ही था। सन् 1990 के दशक की शुरुआत तक उनका स्लेट छत का कारोबार अच्छा चल चुका था। तब वे 'द स्लेट रूफ बाइबल' लिखने की तैयारी में थे।

फिर वैज्ञानिक शोध ठीक हो भी तो उस पर ध्यान कौन देता है? वे बताते हैं कि 1950 और 1980 के दशक में विश्व स्वास्थ्य संगठन ने टट्टी पेशाब से खाद बनाने पर बहुत बढ़िया शोध करवाया था। पर किताबी ज्ञान का कोई मतलब नहीं होता जब तक उसे व्यवहार में न लाया जाए। इस सब शोध को बारीकी से समझ कर उसे सरल शैली में वे लिखते गए। शुचिता, स्वास्थ्य, शरीर,

पानी, जीवाणु और रोगाणु, भूजल, प्रदूषण, जमीन की उर्वरता, हर जटिल से जटिल विषय को सरल अंदाज में समझाते गए। लेकिन ऐसी किताब को कोई प्रकाशक छापना नहीं चाहता था। श्री जोसेफ ने अपनी किताब की 600 प्रतियां खुद ही छापीं 1995 में। उन्हें उम्मीद नहीं कि इतनी प्रतियां भी बिक सकेंगी।

नतीजा था 'द ह्यूमन्योर हैंडबुक' जिसके तीन संस्करणों की 60,000 प्रतियां आज तक बिक चुकी हैं। दुनिया की 15 भाषाओं में इसका अनुवाद हो चुका है। दुनिया भर के पुरस्कार, प्रशंसा और प्रेम साथ में। कई सौ पाठकों ने धन्यवाद की चिट्ठियां लिखी हैं। किताब खुद लेखक के जीवन से निकली है इसलिए बोझिल प्रवचन से वह मुक्त है। कई विद्वानों ने कहा है कि भगवद्गीता भी हमारे यहां इतनी लोकप्रिय इसलिए है क्योंकि वह कर्मक्षेत्र के बीच से निकली बात है, और ऐसी बात का प्रभाव स्थूल पोथियों से ज्यादा होता है।

जोसेफ कहते हैं कि लोग पीने योग्य पानी में शौच निपटते हैं, जबकि पानी की कमी के बारे में सब जानते हैं। किताब व्यावहारिक तरीके बताती है सूखे शौचालय बनाने के, जिनसे हमारा मल-मूत्र बजाए पानी को दूषित करने के जमीन को उपजाऊ बनाता है।

अपनी बात को वे कभी किसी सरकारी और अकादमिक तामझाम में नहीं फंसने देते हैं। उनकी कतई ऐसी रुचि नहीं है कि सरकारें उनके लिखे अनुसार अपनी नीति बदलें या उनके विचारों पर रातों-रात क्रांति हो जाए। उनका आग्रह हमेशा व्यावहारिक रहता है। कोई भी एक विचार में सारे समाधान नहीं मिल सकते और उनके बनाए सूखे शौचालय हर किसी के काम के नहीं हैं, ऐसा वे कहते हैं। लेकिन साथ ही यह भी कहते हैं कि पीने के पानी से चलने वाले फ्लश के शौचालय दुनिया के हर हिस्से में काम नहीं कर सकते हैं। इसे चलाने जितना पानी और बिजली हमारे पास है ही नहीं।

लेकिन मलमूत्र तो सब जगह मिलता है। और उससे खाद बनाने, उससे खाद्य बनाने के लिए न पानी चाहिए, न बिजली।

जोसेफ जेंकिंस की किताबों की जानकारी
www.josephjenkins.com पर मिल सकती है।

*

टिप्पणियाँ

दोराहे पर खड़ा खंडित व्यक्तित्व

अपना देश इस समय दोराहे पर खड़ा नजर आता है। इस दोराहे के भीतर भी और न जाने कितने दोराहे हैं। एक के ऊपर एक दिशा संकेतक लगे हैं और यह तय कर पाना मुश्किल हो रहा है कि हम कौन-सी राह पर चलें।

पिछले पैंसठ सालों के दौरान ऐसी स्थिति पहले कभी नहीं बनी थी। हमें स्वाधीनता मिली, आत्मनिर्णय का अधिकार मिला और एक लंबा दौर इस तरह बीता कि अपने राष्ट्रीय जीवन के बारे में फैसला लेने में हमने कभी भी अनावश्यक विलंब नहीं किया। हम एक जनतांत्रिक व्यवस्था चाहते थे, वह हमने हासिल कर ली; आर्थिक मोर्चे पर हमने समाजवाद का वरण किया और सांस्कृतिक धरातल पर बहुलतावाद व धर्मनिरपेक्षता को हमने राष्ट्रीय मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित किया।

आज के माहौल में उन पुराने दिनों की सिर्फ कल्पना ही की जा सकती है, वह भी उनके द्वारा जिन्होंने उस युग को जिया हो अथवा उसका सम्यक अध्ययन किया हो। ऐसा नहीं कि उन दिनों हमने सारे समाधान पा लिए थे और कोई प्रश्न अनुत्तरित नहीं बचा था, लेकिन बड़े व अहम् सवालों को लेकर हमारी दृष्टि साफ थी। इसलिए यह विश्वास भी था कि जो प्रश्न मुंह बाए खड़े हैं, उनके उत्तर भी आगे-पीछे खोज लिए जाएंगे।

आज एकदम भिन्न स्थिति है। एक वर्ग तो यहां तक सोचने लगा है कि इससे तो अंग्रेजों का राज ही अच्छा था। राष्ट्रीय जीवन में यदि ऐसी धारणा पनपे तो इसे विडंबना के अलावा और किस तरह निरूपित किया जा सकता है? जिन पर देश का प्रशासन चलाने की जिम्मेदारी है, उनसे पूछें तो कितने ही लोग अंग्रेजों के बनाए कानूनों और नियमों की तारीफ करते नजर आएंगे। कितनों को ही लगने लगा है कि अगर अंग्रेज बने रहते तो देश में सामाजिक समरसता स्थापित हो गई होती। ऐसा सोचने वाले भी हैं जो मानते हैं कि विदेशी शासक आदिवासी समुदाय के प्रति आज के मुकाबले कहीं ज्यादा सहृदय थे। ऐसे और भी बहुत से मुद्दों पर इनकी बातें सुनें तो मन में पीड़ा होती है कि क्या स्वाधीनता की लड़ाई इसी दिन के लिए लड़ी गई थी।

ऐसे लोग अतिरेकवादी हैं तथा संख्या में कम हैं यह सोचकर संतोष करना चाहिए। तब भी आज जो विकट संभ्रम की स्थिति बनी है वह किसी भी

तरह चैन नहीं लेने देती। मुझे अपने बचपन में सुना फिल्म 'शिकस्त' का एक गाना याद आता है– चौरस्ते पर जैसे मुसाफिर पथ पूछे घबराए, कौन देश किस ओर जाऊं मैं, मन मेरा समझ न पाए'– ऐसी व्याकुलता हमारे जीवन में घर कर गई है। समाजवाद की ओर जाएं कि पूंजीवाद की ओर, मुक्त बाजार अपनाएं या नियंत्रित बाजार, सार्वजनिक उपक्रमों को बढ़ावा दें या निजी क्षेत्र को, धर्म निरपेक्षता ग्राह्य हो या धार्मिक कट्टरता, स्कूल और अस्पताल चाहिए या नए-नए मंदिर, केंद्रीकरण बेहतर है या विकेंद्रीकरण, पंचायती राज और स्वशासन बेहतर है या कलेक्टर राज, बच्चों की पढ़ाई हिंदी माध्यम से हो या अंग्रेजी माध्यम से, हिन्दी देश की संपर्क भाषा हो या अंग्रेजी, भारत का राष्ट्रीय खेल कौन-सा है– हॉकी या क्रिकेट, अन्ना हजारे ज्यादा दमदार हैं या मनमोहन सिंह, यदि संसद पर प्रश्नचिह्न है तो फिर उससे बढ़कर कौन है इत्यादि।

मेरे इन सवालों में जाहिर है कि कोई तारतम्य नहीं है। जैसे-जैसे ध्यान में आया वैसे-वैसे लिखता गया हूं मैं। मेरी इस फेहरिस्त में पाठक अपनी ओर से और सवाल जोड़ सकते हैं, किंतु देखना यह होगा कि हम लोग इस अनिर्णय की स्थिति से स्वयं को उबार पाने में सक्षम हो पाते हैं या नहीं!

मैं इस परिदृश्य के कुछ ही अंशों पर अपना ध्यान केंद्रित करना चाहता हूं। हमारे आईआईटी, आईआईएम और एम्स जैसे संस्थानों से पढ़कर निकले हजारों बल्कि कुछ लाख लोग इन दिनों विदेशों में बसे हुए हैं। इनमें से अधिकतर ने वहां की नागरिकता भी ले ली है। इनकी उपलब्धियों की कथाएं जब सुनने मिलती हैं तो हम गर्व से फूल जाते हैं। व्यावसायिक सफलताओं पर भी हमें गर्व का अनुभव होता है। परंतु इनका भारत के प्रति क्या रवैया है? एक तो लगभग बिना किसी अपवाद के ये भारत को हिकारत की दृष्टि से देखते हैं। इनके बाल-बच्चे तो भारत आना ही नहीं चाहते। दूसरे, अधिकतर प्रवासी भारतीय विदेशों में बसकर धार्मिक पुनरुत्थानवाद की ओर चले जाते हैं। भारत में धार्मिक असहिष्णुता को बढ़ाने में इनका बहुत बड़ा आर्थिक और वैचारिक योगदान है। तीसरे, इनमें जो नौजवान हैं उन्हें मां-बाप की जरूरत सिर्फ अपने नवजात शिशुओं के पालन-पोषण के समय आती है। बेचारे बूढ़े मां-बाप इसी बहाने इंग्लैंड, अमेरिका की तीर्थ यात्रा कर आते हैं। चौथे, ये भारत में सिर्फ लाभ के लिए पूंजी निवेश करते हैं और जैसे ही घाटे की आशंका दिखती है पैसा वापस खींच लेते हैं। ये अगर मौका मिले तो भारत को पूरी तरह अमेरिका की प्रतिकृति बना दें, लेकिन इन्हें शायद ही कभी ख्याल आता हो कि वे आज जो कुछ भी हैं, भारत के उन देशी संस्थानों के कारण हैं जिनमें उन्होंने पढ़ाई की थी। बड़ी विचित्र बात यह है कि भारत सरकार और राज्य सरकारें इनके लिए हरदम पलक पांवड़े बिछाए रहती हैं।

सवाल उठता है कि एक तरफ हम देश को हर दृष्टि से संपन्न बनाना चाहते हैं और दूसरी तरफ उसके लिए जिन प्रतिभाओं की आवश्यकता है वे संघर्ष के बजाए सुविधा का रास्ता चुन लेती हैं, और हम इस स्थिति को स्वीकार भी कर लेते हैं। एक दूसरी विडंबना भाषा के क्षेत्र में नजर आती है। हिंदी के अध्यापक, साहित्यकार और पत्रकार हमेशा इस बात का रोना रोते हैं कि हिंदी की दुर्गति हो रही है कि लोग किताबें नहीं पढ़ रहे हैं आदि। लेकिन ऐसे कितने हिंदी लेखक हैं जो अपने पठन-पाठन में परिवार के सदस्यों को सहभागी बनाते हों। इसी तरह ऐसे हिंदी सेवी अल्पसंख्या में होंगे जो अपनी संतानों को हिंदी सेवा के लिए प्रेरित करते हों। भाई, जब आपने अपने बच्चों को ही हिंदी नहीं पढ़ाई, आपने ही जब उनके मन में हिंदी के प्रति विरक्ति पैदा की तो फिर आपको क्या अख्तियार बनता है कि दूसरों से हिंदी के पौधों को सींचने की अपेक्षा करें।

इस संभ्रम का एक तीसरा उदाहरण आजकल की आवासीय योजनाओं में देखने मिलता है। एक ओर तो हम बहुत धर्मप्रवीण हैं; जब देखो कहीं न कहीं भागवत कथा या नवधा रामायण तो आए दिन होती ही रहती है, जिसे देखो वह दाहिनी कलाई पर मौली धागा बांधे नजर आता है। आजकल लोग जब घर बनाते हैं तो उसमें विशेष रूप से पूजाकक्ष बनाना नहीं भूलते। पहले मां या दादी की पूजा की पेटी, अलमारी में या एक चौकी पर रखने से काम चल जाता था। लेकिन इन आवासीय योजनाओं के नाम क्या रखे जाते हैं? पहले मातृछाया, पितृछाया, शंकर निवास, पारिजात, आशीर्वाद जैसे नामकरण होते थे। लेकिन इन दिनों कहीं सिंगापुर सिटी बन रही है, तो कहीं मलेशिया सिटी, कहीं सिल्वर स्प्रिंग है, तो कहीं गोल्डन हाइट्स। अब जैसे अपनी भाषा में घर का नाम रखना भी पिछड़ेपन का पर्याय हो गया है।

मैंने जो दो-तीन-चार बिंदु उठाए हैं वे उस नागरिक के खंडित व्यक्तित्व को उजागर करते हैं जो मध्यमवर्गीय या उससे ऊपर है और जिसने देश के सामने उपस्थित प्रश्नों पर तर्कपूर्ण ढंग से बात करना बंद कर दिया है। वह एक आत्मकेंद्रित नागरिक है और सीधी लकीर में सिर्फ उतनी दूर तक देखता है जहां तक उसे अनिवार्यता महसूस होती है।

एक विद्वान मित्र ने कुछ दिन पहले आपसी चर्चा के दौरान कहा कि 'अपनी इसी मनोवृत्ति के कारण भारत दो सौ साल तक गुलाम बना रहा। अगर जल्दी ही इस भंवर से नहीं उबरेंगे तो तय मान लें कि इस नई गुलामी से शायद ही कभी उबर पाएंगे।

ललित सुरजन

अक्षर पर्व, रायपुर, जुलाई 12 में छपी प्रस्तावना के अंश से।

*

पत्र

ताजे अंक में श्री मेहरोत्राजी द्वारा कांग्रेस के संस्थापक श्री एलिन ऑक्टेवियन ह्यूम पर लिखा लेख पढ़कर बहुत अच्छा लगा। मैं भी अन्य कई लोगों की तरह बस ह्यूम का नाम भर जानता था। लेखक श्री मेहरोत्रा ने उन पर इतनी सार्थक, विशद और आनंददायी जानकारी देकर एक बड़ी सेवा की है। उनकी सीधी सरल भाषा मोह लेती है। उनकी शैली पठनीय है। उन पर तो श्री मेहरोत्रा को एक पूरी पुस्तक ही लिखनी चाहिए। इस लेख से पता चलता है कि श्री ह्यूम कोई साधारण व्यक्ति नहीं थे। हमारे देश के पढ़े लिखे लोगों को इस महान आदमी के बारे में कुछ ठीक जानकारी मिलनी ही चाहिए। इस लेख को छापने के लिए बधाई और धन्यवाद श्री मेहरोत्रा को कि उन्होंने इस महान व्यक्ति के बारे में इतना कष्ट उठाकर न सिर्फ इतनी सुंदर जानकारी एकत्र की, उसे बहुत ही मूल्यवान तरीके से पाठकों के सामने रखा है।

नटवर ठक्कर,
नागालैंड गांधी आश्रम, जोनाली पथ, गुवाहाटी, असम

*

नवंबर-दिसंबर अंक। श्री श्रीराम मेहरोत्राजी का लेख 'ह्यूम हमें प्यार करते रहे, श्री लक्ष्मणसिंह खंगारोत का लेख 'लापोडियाः खबरों में नहीं बहा' तथा जाकिर हुसेन साहब पर उनकी पुत्री सईदा आलम खुर्शीद का लेख 'सारा भारत मेरा घर' खूब प्रभावित कर गए।

सोपान जोशी का लेख 'पुतले हम माटी के' तथा देश के प्रति पूर्णतः समर्पित कवि और क्रांतिकारी बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' का भवानी बाबू द्वारा प्रस्तुत रेखाचित्र, भासित होता शब्दचित्र आप्लावित करते हैं। सद्विचार और सद्गुण का विस्तार तथा दुर्विचार और दुर्गुण संकुचन ही मानव हितकारी है। गांधी का भाषण 'सेवाग्राम का गुणा करें' तथा टिप्पणी 'यदि गांधीजी आज होते' सटीक समाधान हैं।

मुझे गांधी-मार्ग में अतीत जीवी सामग्री जैसी बात नहीं दिखती। अतीत को वर्त्तमान से जोड़कर गांधी दृष्टि की, गांधी विचार की सार्थकता आज के संदर्भ में प्रमाणित करती सामग्री समय की सात्विक जरूरत है।

भगवानदास अटलानी,
डी. 183, मालवीय नगर,
जयपुर- 301017 राजस्थान

*

अपने यहां कहा जाता है कि धरम और करम दोनों दृढ़ संकल्प के विषय हैं। संकल्प से यह दोनों फलते हैं। 'गांधी-मार्ग' इसी संकल्प की वाहक पत्रिका है। हर दो महीने बाद प्रसन्न जल से, विचारों से पगी पत्रिका नया प्राण फूंक जाती है। पिछला अंक भी ऐसा ही है। 'सेवाग्राम का गुणा करें' में गांधीजी बेहद साफ-साफ कह रहे हैं कि सेवाग्राम में सब कुछ होते हुए भी वो सब नहीं हो पाया जो मैं करना चाहता था। यह बात बापू सन् 1945 में कह रहे हैं। आज तो स्थिति और भी भयानक होकर यानि 'गुना' होकर और भी खराब हो चुकी है। देश आज संक्रमण काल से गुजर रहा है। पुराना बहुत कुछ तोड़ा जा रहा है। जो नहीं बन पा रहा, उसे रेडिकल बताया जा रहा है। ऐसे दौर में सेवा के चंद ग्राम 'गुणा' होने के बजाए घटे ही हैं। सुखी बनाने वाली, सुधार लाने वाली सब नीतियां देश का प्रत्येक कोना दुखदाई करती जा रही हैं। गांधीजी प्रत्येक संकट तक चल के जाते थे, लेकिन उनके बाद सेवा के तमाम रास्ते धूल धक्कड़ से गुना हो चुके हैं। यानि सेवा के ग्रामों में कुछ छंटाक भी नहीं जुड़ पाया। सरकारें भी यही चाहती हैं कि सेवा के ग्रामों में कुछ गुणा करने वालों को तोला माशा करके छोड़ दिया जाए। गांधी-मार्ग इन सब बातों को बेहद मजबूती से पाठकों के सामने प्रस्तुत कर रही है। पत्रिका हर दो माह बाद सेवा के चंद ग्रामों में कुछ गुना ही कर रही है, घटाव कुछ भी नहीं।

सोपान जोशी का लेख 'पुतले हम माटी के' बहुत उम्दा है। विज्ञान की जानकारियां

परोसने वाली पत्रिकाओं में ऐसी सरल भाषा में कभी कोई लेख नहीं मिलेगा। कहा तो यह भी जा सकता है कि यह लेख विज्ञान का नहीं अध्यात्म का है। हमें अपने भीतर झांकने का मौका देता है। बिना किसी संत के प्रवचन के। भवानी भाईजी का लेख 'कुछ ऐसी तान सुनाने वाला कवि' हासिले पत्रिका है। साहित्य से जुड़े मित्र जरा पूरे देश के साहित्य संसार पर नजर दौड़ा कर देखें कि कहीं बालकृष्ण नवीन जैसा कोई किरदार दीखता है! सईदा खुर्शीद का अपने पिता जाकिर हुसैन को याद करना बहुत अच्छा लगा। उस दौर के सब नेताओं का 'भारत' अपना घर था। लेकिन आज के नेता अपनी मामूली सी संस्थाओं के बचाव में दूसरों का खून बहाने तक की धमकियां दे बैठते हैं।

गांधी-मार्ग का प्रत्येक अंक देश की पल-पल धड़कती नब्ज पर बेहद आत्मीयता से हाथ रखता है और उसकी यही सेवा देश के कुछ शहरों और गांवों में अच्छे कामों का गुणा कर सकती है।

सुरेन्द्र बांसल,
1023, पहली मंजिल,
सेक्टर 38 बी, चंडीगढ़

*

हंस पत्रिका के माध्यम से गांधी-मार्ग का नाम सुना और जाना। तुरंत पत्र लिखा। नमूना का अंक मांगा। फोन आया कि एक नहीं दो चार अंक भेज रहे हैं। हुआ भी यही। नया अंक और दो अंक उसके पहले के तथा छोटी-सी पुस्तिका 'नील का धब्बा' भी मिली। इस सामग्री की कीमत का एक बार भी कहीं जिक्र नहीं था।

यह बात दिल को छू गई। रुपए की मारामारी के इस दौर में कोई जगह ऐसी भी है कि इसकी वह परवाह भी नहीं करती। बस उसे तो अपने विचार, गांधी-विचार फैलाने की चाहत है।

पत्रिका पढ़ने लगा तो पूरी पढ़ गया। जीवन में पहली बार भावुक हुआ। दुख भी हुआ कि बड़ी देरी से गांधी-मार्ग को जाना। इसी से पता चला कि हम सब इलेक्ट्रॉनिक चीजों के कितने आदी होते जा रहे हैं और इस आदत का हम सब पर कितना बुरा असर पड़ रहा है। मुझे लगता है कि इलेक्ट्रॉनिक चीजों का उपयोग सिर्फ जरूरत के अनुसार होना चाहिए, न कि मनोरंजन या समय बिताने के लिए। हम सब पश्चिमी चमक-दमक से प्रभावित होते जा रहे हैं। बड़ी तेजी से। यह चिंताजनक है।

अभी सिर्फ एक ही अंक पढ़ा है। बाकी पढ़कर फिर लिखूंगा। इंतजार करें झारखंड से कुछ नए पाठकों का। बस।

विजय सोंधी,
पोस्ट- मोतीनगर,
धनबाद-828120 झारखंड

*

ताजा अंक मिला। ह्यूम पर लेख विशेष रूप से अच्छा लगा। अभी कुछ दिन पहले ही उन पर श्री बनारसीदास चतुर्वेदी का लिखा एक लेख पढ़ा था। बनारसीदासजी की एक पुस्तक है, जिसमें उनके अनेक विदेशी मित्रों पर लेख है। इसी संग्रह में श्री ह्यूम पर सामग्री है। इसमें ह्यूम का भारत के प्रति प्रेम और यहां की गई सेवाओं का उल्लेख है।

श्री खुर्शीद की मां का लेख भी अच्छा है। मैं समझता था कि मुसलमानों में पिता को 'अब्बा' कहने की प्रथा है। इस लेख से पता चला कि जाकिर साहब परिवार में 'मियां' कहलाते थे। अच्छी जानकारी है। मेरा फर्रूखाबाद से विशेष संबंध रहा है। कासगंज के एक प्रसिद्ध 'चतुर्वेदी परिवार' के सदस्य मेरे सहपाठी रहे थे।

विश्वनाथ टंडन,
1159, रतनलाल नगर,
कानपुर- 208022 उत्तर प्रदेश

*

सितंबर-अक्तूबर का अंक। अपने 71वें जन्मदिन के प्रसंग में गांधीजी ने जो शानदार बातें बताई हैं, उन्हें पढ़ आनंद भी हुआ और यह पढ़ कर हंसी भी आई कि 'मैं नहीं जानता कि उस ग्रंथ में संकलित सब प्रशंसात्मक लेखों को पढ़ने का समय मैं कब निकाल पाऊंगा।'

मैंने देखा है कि बहुत से लोग अपने भाषण, लेख, रिपोर्ताज आदि जब अखबारों में छपते हैं तो उन सबको काट कर ढंग से फाइल कर सुरक्षित रखते हैं और आने वाली पीढ़ियों को बड़े गर्व से दिखलाते हैं।

इसी अंक में छपा श्रीमती रवलीन कौर का पत्र पढ़कर बहुत अच्छा लगा। वे गांधी विचार समझने की कोशिश कर रही हैं। मैंने उन्हें सीधे भी कुछ सुझाव दिए हैं।

वे अपने क्षेत्र में गांधी-विचार की कोई स्वैच्छिक गतिविधि प्रारंभ करें तो आसपास कुछ छात्र-छात्राएं भी उनसे जुड़कर कुछ सार्थक प्रयोग कर सकेंगे।

डी.के. ओझा,
1, फर्स्ट क्रॉस स्ट्रीट, इंदिरा नगर,
अडियार, चैन्नई-600020

*

गांधी-मार्ग में जो कुछ प्रकाशित हो रहा है, वह उचित है। इसके माध्यम से अन्य कई लोगों के विषय में पर्याप्त संदर्भ मिल जाते हैं। तिलक-गोखले-बनर्जी के बाद जो कांग्रेस अस्तित्व में थी उसने विभाजन को स्थान दिया। जनता कुछ न कर सकी- पश्चिम से आने वाले आक्रमण आज भी सक्रिय हैं। ये लंबी बात है।

मेरा आदर्श कहता है– जो भारतीय आत्मा से जुड़ा है– अच्छा वह है जो स्वयं को हित तक ले आए, परिवार का हित करे और संपूर्ण राष्ट्र का भला सोचे। किंतु कुछ लोगों को उनकी बुराई सुनना पसंद नहीं आता है। देश को क्यों बेच रहे हैं। एस.ई.जेड. सेज जैसी योजना भारतीयता को नष्ट कर रही है– क्या भविष्य में संपूर्ण सामग्री आयात करनी पड़ेगी?

नवल जयसवाल,
प्रेमन, बी-201, सर्वधर्म,
कोलार रोड, भोपाल-462042 म.प्र.

*

नवंबर-दिसंबर 2012 के गांधी-मार्ग से लक्ष्मणसिंह खंगारोत का लिखा 'लापोड़िया गांवः खबरों में नहीं बहा' हमें प्राप्त हुआ। हिन्दी वाटर पोर्टल पर हमने इस लेख को प्रकाशित किया है। इसके अलावा लापोड़िया पर प्रकाशित अन्य सामग्री भी वहां मिलेगी। हिन्दी पोर्टल से इस लेख को दैनिक हिन्दुस्तान अखबार के मोबाइल संस्करण ने संक्षेप करके छापा है।

हिंदी वाटर पोर्टल को गांधी-मार्ग में छपे 'पानी-पर्यावरण' से सीधे जुड़े खूब अच्छे लेख प्राप्त हो जाते हैं। इसके लिए हम हमेशा कृतज्ञ रहेंगे। इन लेखों को हम इंटरनेट के हिंदी पाठकों तक पहुंचाने की कोशिश करते रहते हैं। यहां से कई बार बड़ी पत्र-पत्रिकाएं भी इन लेखों को छापती हैं।

'लापोड़िया गांव... जैसे लेखों की शब्दांजलि से हिंदी वाटर पोर्टल को तृप्ति मिलती रहती है। इंटरनेट की दुनिया के मित्र उदारतापूर्वक उसका सदुपयोग अपने प्रकाशन में भी कर लेते हैं। इससे हमें खूब खुशी मिलती है।

सिराज केसर, हिन्दी वाटर पोर्टल,
मयूर विहार-1, दिल्ली-91

*

गांधी-मार्ग का नवंबर-दिसंबर अंक मिला। लेख 'सेवाग्राम का गुणा करें' से लेकर 'ह्यूम हमें प्यार करते रहे' एक से एक लेख। मन को छू लेते हैं। भारत का जीवन पहले कैसे था। देश की वर्त्तमान पीढ़ी को इन बातों को याद करते-करते, भविष्य का मार्ग कैसा होना है, सोचना चाहिए। हर आदमी गांधी-मार्ग पत्रिका पढ़कर मनन करे– यह आवश्यक है। पर यह होगा कैसे?

बी.एस. शांताबाई, प्रधान सचिव,
कर्नाटक महिला हिन्दी सेवा समिति, 178,
IV मेन रोड, चामराज पेट, बैंगलूरू-560018 कर्नाटक

*

गांधी-मार्ग का बिलकुल नया-नया पाठक हूं। एक मित्र के माध्यम से पत्रिका के कई अंक पढ़ने को मिले। पत्रिका से गुजरते हुए यही लगा की बेशक देश में हजारों पत्रिकाएं होंगी, लेकिन लगता नहीं की कोई अन्य पत्रिका भी होगी जिसमें सरबत (सर्वस्व) के भले की सोच के अलावा और कुछ नहीं।

गांधीजी के बारे ज्यादा नहीं जानता था। पंजाब का निवासी होने के कारण कहने में कतई हर्ज नहीं कि बेशक पंजाब में पिता के लिए इस्तेमाल किया जाने वाला शब्द 'बापू' ही है, लेकिन देश के बापू के लिए मन में वैसा आदर नहीं था, जैसा होना चाहिए। कारण मात्र यही दिखता है कि इसमें मिथ्या प्रचार की एक बड़ी भूमिका रही है।

गांधी-मार्ग पढ़ते हुए लगता रहा कि बापू के प्रतीकात्मक बंदरों की हम सब औलादें अपने पूर्वजों पर नहीं गईं। हम बुरा देखने भी लगे हैं, सुनने भी लगे हैं और बोलने तो सबसे ज्यादा लगे हैं। बापू की राह देशना हमसे दूर होती गई है। तथाकथित विकास के उलटे पहिए ने हम सबके भीतर के मूल्यवान गुण हर लिए हैं। सत्य-अहिंसा के पहरेदारों के गिनती न के बराबर रह गई है।

पंजाब का इतिहास बेहद गौरवशाली रहा है। लेकिन पंजाब के सब मीठे आब कड़वे हो चले हैं। मार्गदर्शक इस बहस में उलझे हैं कि

पंजाब में नशेबाजों की गिनती सत्तर प्रतिशत है या साठ प्रतिशत! बहस का मुद्दा ये नहीं कि आखिर हम जा कहां रहे है, क्या-क्या गंवा रहे हैं और आगे क्या-क्या गंवाएंगे। हमारे चिंतक बेशक समाज को भला बुरा कहते हों लेकिन क्या हमारा समाज सचमुच किसी दूसरे ग्रह पर है? क्या समाज और हम अलग-अलग हैं? बौद्धिक गाली गलौज को यहां तक खींच लाते हैं कि अक्सर कहने लगते हैं, छोड़ो यार, यह देश तो रहने लायक रहा ही नहीं। पंजाब को गर्त में छोड़कर विदेशों में बसे एन आर आई भी यही सोचकर पंजाब से भागे थे।

हमारा माथा अब ठनकता नहीं क्योंकि माथा बदल चुका है। हम अब ठिठकते भी नहीं क्योंकि हम सबने गति को ही अपना अंतिम लक्ष्य मान लिया है। छोटे से उद्धरण से समझें– हम घर की साफ-सफाई का जिम्मा तो अपना मानते हैं, लेकिन अपने ही कूड़े से गंदे किए मोहल्ले की सफाई का जिम्मा किसी और का मानते हैं। बापू ने जीवन में अपने से जुड़े सभी कामों को अपना दैनिक आचरण बनाया। हम सबको अपने भीतर तीन बंदरों में से, तीनों न सही एक तो जरूर खोजना होगा और ये सोचना होगा कि आखिर हम हैं क्या? हमारे सबेरे शाम आखिर गुजरते कैसे हैं? हम कैसी खबरें तलाशते हैं? हम किन मुद्दों से बचते हैं? गांधी-मार्ग और गांधीजी का मार्ग हमें यही सिखाता है।

भूपेंद्र सिंह मलिक,
2689/बी, सेक्टर 70, मोहाली, पंजाब।

*

वर्षों पहले पट्टीकल्याणा आश्रम में श्री महावीर त्यागी के निवास पर ' गांधी-मार्ग' को पहली बार पढ़ा था और फिर अगले अंकों का मोह सहेजे इसका आजीवन सदस्य बन बैठा। पत्रिका ने भी कभी निराश नहीं किया। लगता है जीवन में मेरे द्वारा लिए गए कुछ श्रेष्ठ निर्णयों में से ये भी एक है, जिस पर गर्व किया जा सकता है। कुछ दिन पत्रिका के मिलने में व्यवधान रहा पर अब अंक लगातार मिल रहे हैं। कोटि-कोटि धन्यवाद।

लेखों का चयन, संपादन इस तरह होता है कि यदि राजस्थानी शब्दावली में कहें तो बुद्धि का झड़मंडण कहीं-कहीं ही होता है।

नवंबर-दिसंबर के अंक में श्री श्रीराम मेहरोत्रा का लेख अनेक नई जानकारियां सामने लाया है। अपने ही हमवतन शासन के खिलाफ भारतीयों को खड़ा करने के लिए ए.ओ.ह्यूम ने अपने जीवन का अंतिम समय लगा दिया। पर हम स्वयं को कितना बदल पाए? आज भी परिस्थितियों में कितना बदलाव हुआ है, सब हमारे सामने है।

मनोज त्यागी,
26, भड़ोला, दिल्ली-110033

*

मैं सबसे पहले पत्र पढ़ा करता हूं। गांधी-मार्ग गांधी कीर्तन से आगे पाठकों के लिए कर्म की प्रेरणा भी बनना चाहिए। मैंने दो-तीन वर्ष पहले एक पत्र में लिखा था– महाराष्ट्र आमची मुंबई आंदोलन के जरिए मुंबई से उत्तर भारतीयों और बिहार से मुंबई गए लोगों को खदेड़ा जा रहा है। देश सरकार की ओर देख रहा है। क्यों नहीं हजार-पांच सौ के जत्थे में लोग ऐलानिया तौर पर जाते हैं जिससे महाराष्ट्र सरकार पर उनकी सुरक्षा हेतु केंद्र का दबाव अनिवार्य हो सकेगा। गांधी ने दक्षिण अफ्रीका में ट्रांसवाल मार्च निकाला था। किंतु इस पर पाठकों की प्रतिक्रियाएं शून्य रहीं। मुझे यह आश्चर्य और खेद है!

इस अंक में श्रीराम मेहरोत्रा का आलेख–ह्यूमः हमें प्यार करते रहे' अंक की शेष सामग्री के समान उपयोगी रहते हुए भी मुझे सहज सुपाच्य नहीं लगा है। इसलिए कुछ अप्रिय बातें।

भारत जब आजाद हुआ था, हिंदुस्तान टाइम्स के स्टॉफ में एक कार्टूनिस्ट हुआ करते थे– अहमद। मुझे एक विशेषांक में उनका उन दिनों निकला कार्टून कभी नहीं बिसराः इसमें बालक को मनबहलाव के लिए एक खिलौना शेर दिया गया था, कालांतर में वही खिलौना जीवंत होकर बालक को दहाड़कर भयभीत करने लगा। बालक था, ब्रिटिश साम्राज्य और खिलौना था कांग्रेस संगठन...।

ह्यूम भारतीयों को प्यार नहीं कर सकते थे... वे लारेंस आफ अरेबिया (टी.इ.लारेंस) के स्तर के गोरे नहीं थे... सारा अखाड़ा (72 लोगों का) जुटा लेने के बावजूद वे कभी कांग्रेस के मंच से नहीं बोले, न कभी कांग्रेस

के सभापति बने, बस सचिव बनकर उस समय तक संचालन करते रहे जब तक बड़े (समृद्ध) जमींदार अंग्रेजी साम्राज्य के विरुद्ध एक जुटता नहीं पकड़ पाए। यह एकजुटता संभव हुई थी लार्ड कर्जन की बंग-भंग योजना से। ह्यूम ने 1906 में कांग्रेस का दामन छोड़ा। कांग्रेस तब तक एक अन्य गोरे प्रिंसिपल आर्कबोल्ड को मुस्लिम लीग की जड़ें जमाने के लिए भूमि तैयार कर दे चुकी थी। ह्यूम द्वारा जुटाए गए राष्ट्रवादी हिंदूवादी समझे जाने लगे थे। गांधी-मार्ग के पाठकों को यह बताने की जरूरत शायद नहीं है कि उस समय तक कांग्रेस में गोखले से ज्यादा तिलक को तवज्जो मिलती थी और 1905 की कांग्रेस में मुस्लिम डेलीगेट्स की संख्या 700 से महज 17 रह गई थी। ह्यूम इंग्लैंड में कांग्रेस का कार्य करते बताए गए हैं। यह अंग्रेजों की ही कार्यनीति का एक पैंतरा था, क्योंकि वहां ऐसी ही सुविधाएं अमीर अली को मुस्लिम हितों के लिए अंग्रेजों को साधने के लिए मिली हुई थीं।

मुझे इस आलेख से इतिहास में झांकने का उत्साह मिला है– मैं समझ पाया हूं कि पाकिस्तान की भूमि लार्ड कर्जन के जमाने तक पुख्ता तौर पर बन चुकी थी। यह हमारी खामखयाली है जो उसमें गांधी की भूमिका खोजते हैं। यह टैगोर की 150 वीं जयंती का समय है– हमें बंगाल की बंग-भंग के दौरान वाली स्थितियों की जानकारी मेहरोत्राजी से मिल सकती है क्योंकि वे ब्रिटिश राष्ट्रमंडल और राष्ट्रीय आंदोलन के इतिहास में रुचि लेते रहे हैं।

श्री मेहरोत्राजी ह्यूम स्मृति मंदिर बनाकर ह्यूम को खिराजे अकीवत का पात्र सिद्ध करना चाहते हैं। कल को कोई और अलीगढ़ कॉलेज के प्रिंसिपल आर्कबोल्ड की स्मृति में युनिवर्सिटी में स्मृति मंदिर बनाने की बात उठाएगा या मुस्लिम लीग के पहले अधिवेशन के प्रधान आदमी जीमीरभाई व्याख्यान माला की शुरुआत कराने को आगे आएगा। इससे तो अच्छा यह था कि श्री मेहरोत्राजी उस लार्ड कर्जन पर जानकारी भरा लेख लिखते, जिन्हें नए भारत के निर्माण का श्रेय सहज दी दिया जा सकता है। उन्हीं के द्वारा उकसाने से राष्ट्रीय आंदोलन में स्फूर्ति या चेतना आई थी। अंग्रेज लेखक ए.जी. गार्डनर ने लिखा था... इन 1902 देयरवाज नो नेशनल मूवमेंट। टुडे आल दी लैण्ड फरमेंट्स विद न्यू नेशनल आइडिएल्स, वी ओ टु लॉर्ड कर्जनूस प्रोवेकेटिव पालिसी; ही हैज क्रिएटेड द न्यू इंडिया।

ह्यूम दरअसल एक ब्रिटिश वायसराय द्वारा निर्देशित शख्सियत रहे– सचिव पद से अपने विस्थापन की खुन्नस ने उनको उस वायसराय के हाथों की कठपुतली बन जाने दिया, जो गैर सरकारी अंग्रेजों के दबाव को झेलते हुए तंग थे। कौआ कोयल की बोली बोले तो अंदेशा होना चाहिए छल का।

कांग्रेस को खड़ा करना अंग्रेजों की अपनी खुद की सुरक्षा के लिए जरूरी हो गया था। उन्हें डर लगने लगा था कि गदर की वारदातों से कहीं उनकी न्यायप्रिय साख को झटका न लग जाए।

'पुतले हम माटी के' बार-बार पढ़ने योग्य लेख है। संजय ए. पै, लक्ष्मणसिंह खंगारोत, सईदा खुर्शीद आलम सभी पठनीय हैं। मुझे वे हिलोरें बरबस याद आने लगी हैं, जिन्हें जगाने वाली तान सुनाने वाले कवि के संबंध में मिश्रजी ने लिखा था। मैंने नवीनजी को देखा था। इस लेख से वे श्राद्ध-पक्ष के बाद ही सही, याद तो आए 'टुकरी लेने दो जरा देर...।

और अंत में टिप्पणियां शीर्षक के अंतर्गत प्रेरक पंक्तियां– 'आज का एक ठीक कदम पर्याप्त है, कल की शक्ति वही देगा– ऐसी प्रार्थना मन में तो करें'... 'हमसे जितना बने, उतना तो करें' पढ़कर ऐसा लगा जैसे किसी सूफी संत को पढ़ रहा हूं।

धर्मपाल अकेला,
प्रेमपुरा, हापुड़, उत्तर प्रदेश।

*

प्रदेश में विकास के सपनों का नया चरण
महाकाल का अभिषेक करने, नर्मदा-जलावतरण

मध्यप्रदेश सरकार का भागीरथी प्रयास - नर्मदा से मालवा का जलाभिषेक

एक ज्योतिर्लिंग (ओंकारेश्वर) से दूसरे ज्योतिर्लिंग (महाकाल) तक

नर्मदा-क्षिप्रा सिंहस्थ लिंक परियोजना

नदियों को जोड़कर
जल-संकट से मुक्ति का
पूर्व प्रधानमंत्री
श्री अटल बिहारी वाजपेयी का
स्वप्न सच होगा।

शिवराज सिंह चौहान
मुख्यमंत्री

ज्योति से ज्योति तक धारा-प्रवाह
मध्यप्रदेश

रजिस्टर्ड नं 4545 / 57

जिस प्रदेश में इतनी शिक्षा हो, जिसका राज्यतंत्र अच्छा हो और जहां लोगों को बहुत से अधिकार प्राप्त हों, वहां इतने भयंकर रूप में अस्पृश्यता कैसे चल रही है? यह पुराने रिवाजों की देन है। जब अज्ञान को प्राचीनता का आश्रय मिल जाता है तब वह ज्ञान माना जाने लगता है।

— गांधीजी